काव्य के रूप

(Forms of Poetry)

कीर्ति शिखर

काव्य के रूप

काव्य के रूप
(Forms of Poetry)

कीर्ति शिखर

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5622-6

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली – 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

राष्ट्रीय एकता प्रत्येक देश के लिए महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीय एकता की आधारशिला है सांस्कृतिक एकता और सांस्कृतिक एकता का सबसे प्रबल माध्यम साहित्य की परिधि के अन्तर्गत महाकाव्यों का विशेष महत्व है, जिनके वृहत् कलेवर में राष्ट्रीय एकता को प्रभावी रीति से प्रतिफल करने का पूर्ण अवसर रहता है। भारतीय महाकाव्य का आयोजन इसी से प्रेरित होकर किया गया है। इसमें तीन प्राचीन भाषाओं – संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अंग्रेजी को मिलाकर तेरह आधुनिक भाषाओं के 26 प्रमुख महाकाव्यों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

खंड काव्य साहित्य में प्रबंध काव्य का एक रूप है। किसी घटना विशेष को लेकर, जो जीवन में घटित होती है, उस पर लिखा गया काव्य खंड काव्य कहा जाता है। खंड काव्य में मुख्य चरित्र की किसी एक प्रमुख विशेषता का चित्रण होने के कारण अधिक विविधता और विस्तार नहीं होता।

'मुक्तक काव्य' में कथा-सूत्र आवश्यक नहीं है। इसलिए उसमें घटना और चरित्र के अनिवार्य प्रसंग में भाव-योजना नहीं होती। वह किसी भाव-विशेष को आधार बनाकर की गई स्वतंत्र रचना है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

प्रस्तावना *v*

1. विषय बोध **1**

शाब्दिक अर्थ 2

संस्कृत काव्य का इतिहास 3

आधुनिक हिन्दी पद्य का इतिहास 7

भारतेंदु हरिश्चंद्र युग की कविता (1850-1900) 8

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का योगदान 13

2. काव्यशास्त्र का स्वरूप एवं समस्याएँ **14**

प्राचीन साक्ष्यों में काव्यशास्त्र का स्वरूप 14

काव्य-सम्प्रदाय 20

संस्कृत काव्यशास्त्र की समस्याएं 24

3. काव्य साहित्य का स्वरूप **39**

महाकाव्य 40

महाकाव्य की विशेषताएँ 41

महाकाव्य के लक्षण 42

4. संस्कृत साहित्य में काव्य परंपरा **50**

काव्य के विशेष अंग 52

महाकाव्य का लक्षण 53

ऋग्वेदसंहिता: सबसे पुराना ग्रंथ 54

लौकिक साहित्य 56

प्रगतिशीलता 74
5. प्रबोधक काव्य 76
विषयवस्तु 76
द्विवेदी युगीन प्रबोधक काव्य 76
6. गजल 79
गजल 79
गजल का विश्लेषण 81
स्वरूप 89
गजल के प्रकार 89
इतिहास 90
7. शायरी 95
आम प्रयोग में 97
8. गीति काव्य एवं गीत 100
इतिहास 100
कीर्तन और कृति 103
लोकगीत 103
पर्वगीत 105
बारहमासा 105
9. दोहा 107
साहित्य में स्थान 109
कबीर के दोहे की भाषा और शैली 110
पंचमेल खिचड़ी भाषा 111
कबीरदास 112
रमैनी 114
10. छंद 117
छंद का अर्थ 118
छंद के अंग 118
रसखान की छंद योजना 128
11. मुक्तक 132
रसखान के मुक्तक 140
मुक्तक 140

मुक्तक के प्रकार 141
स्वतन्त्र मुक्तक 142
12. पद 144
परिभाषा 144
चौपाई 149

1

विषय बोध

काव्य, कविता या पद्य, साहित्य की वह विधा है जिसमें किसी कहानी या मनोभाव को कलात्मक रूप से किसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। भारत में कविता का इतिहास और कविता का दर्शन बहुत पुराना है। इसका प्रारंभ भरतमुनि से समझा जा सकता है। कविता का शाब्दिक अर्थ है काव्यात्मक रचना या कवि की कृति, जो छन्दों कीशृंखलाओं में विधिवत बांधी जाती है।

काव्य वह वाक्य रचना है जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो अर्थात् वह जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। रसगंगाधर में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दलंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं, पर 'अर्थ' की 'रमणीयता' कई प्रकार की हो सकती है। इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। साहित्य दर्पणाकार विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक जँचता है। उसके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'। रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार की काव्य की आत्मा है।

काव्यप्रकाश में काव्य तीन प्रकार के कहे गए हैं, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र। ध्वनि वह है जिस, में शब्दों से निकले हुए अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा छिपा हुआ अभिप्राय (व्यंग्य) प्रधान हो। गुणीभूत ब्यंग्य वह है जिसमें गौण हो। चित्र या अलंकार वह है जिसमें बिना ब्यंग्य के चमत्कार हो। इन तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम भी कहते हैं। काव्यप्रकाशकार का जोर छिपे हुए भाव पर अधिक जान पड़ता है, रस के उद्रेक पर नहीं। काव्य के दो और भेद किए गए हैं, महाकाव्य और खंड काव्य। महाकाव्य सर्गबद्ध और उसका नायक कोई देवता, राजा या

धीरोदात्त गुंण संपन्न क्षत्रिय होना चाहिए। उसमेंशृंगार, वीर या शांत रसों में से कोई रस प्रधान होना चाहिए। बीच बीच में करुणाय हास्य इत्यादि और रस तथा और और लोगों के प्रसंग भी आने चाहिए। कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चंद्र, रात्रि, प्रभात, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु, सागर, संयोग, विप्रलम्भ, मुनि, पुर, यज्ञ, रणप्रयाण, विवाह आदि का यथास्थान सन्निवेश होना चाहिए। काव्य दो प्रकार का माना गया है, दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो अभिनय द्वारा दिखलाया जाय, जैसे, नाटक, प्रहसन, आदि जो पढ़ने और सुनेन योग्य हो, वह श्रव्य है। श्रव्य काव्य दो प्रकार का होता है, गद्य और पद्य। पद्य काव्य के महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद कहे जा चुके हैं। गद्य काव्य के भी दो भेद किए गए हैं– कथा और आख्यायिका। चंपू, विरुद और कारंभक तीन प्रकार के काव्य और माने गए हैं।

शाब्दिक अर्थ

काव्य या कविता का शाब्दिक अर्थ है काव्यात्मक रचना या कवि की कृति, जो छन्दों कीशृंखलाओं में विधिवत बांधी जाती है। काव्य वह वाक्य रचना है जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो अर्थात् वह कला जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। 'रसगंगाधर' में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दालंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं। पर 'अर्थ' की 'रमणीयता' कई प्रकार की हो सकती है। इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। 'साहित्य दर्पणाकार' विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक माना गया है। उनके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है।' रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार की काव्य की आत्मा है।

कविता या काव्य क्या है? इस विषय में भारतीय साहित्य में आलोचकों की बड़ी समृद्ध परंपरा है–आचार्य विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, पंडित अंबिकादत्त व्यास, आचार्य श्रीपति, भामह आदि संस्कृत के विद्वानों से लेकर आधुनिक आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा जयशंकर प्रसाद जैसे प्रबुद्ध कवियों और आधुनिक युग की मीरा महादेवी वर्मा ने कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने–अपने मत व्यक्त किए हैं। विद्वानों का विचार है कि मानव हृदय अनन्त रूपतामक जगत के नाना रूपों, व्यापारों में भटकता रहता है, लेकिन जब मानव अहं की भावना का परित्याग करके विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह

मुक्त हृदय हो जाता है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। कविता मनुष्य को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित घेरे से ऊपर उठाती है और शेष सृष्टि से रागात्मक सम्बंध जोड़ने में सहायक होती है। काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। ये परिभाषाएं आधुनिक हिंदी काव्य के लिए भी सही सिद्ध होती हैं। काव्य सिद्ध चित्त को अलौकिक आनंदानुभूति कराता है तो हृदय के तार झंकृत हो उठते हैं। काव्य में सत्यं शिवं सुंदरम् की भावना भी निहित होती है। जिस काव्य में यह सब कुछ पाया जाता है वह उत्तम काव्य माना जाता है।

संस्कृत काव्य का इतिहास

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र के लिए अलंकारशास्त्र, काव्यालंकार, साहित्यविद्या, क्रियाकल्प आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। इनमें अलंकारशास्त्र शब्द सर्वाधिक प्रचलित माना जाता है। भामह, वामन तथा उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने काव्यविवेचन से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम में काव्यालंकार शब्द का प्रयोग किया है। इसे अलंकारशास्त्र कहने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो प्राचीन आचार्यों ने समस्त सौन्दर्यजनक धर्मों का अलंकार शब्द से ग्रहण किया है। दूसरे प्राचीन आचार्यों की धारणा थी कि अलंकार ही काव्य में प्रधान है। इसी कारण काव्यविवेचना का नाम अलंकारशास्त्र रख दिया गया। आचार्य भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्यलक्षण से आचार्यों को पश्चात् काल में साहित्य शब्द की प्रेरणा मिली। इन सब नामों से भिन्न इस शास्त्र के लिए एक नाम और प्रयुक्त हुआ है वह है – 'क्रियाकल्प' इसका निर्देश वात्स्यायन के कामशास्त्र में गिनायी गयी चौसठ कलाओं में आता है।

सम्पाठ्यं, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोषः, छन्दोज्ञानम् क्रियाकल्पः छलितकयोगाः।

इसके टीकाकार जयमंगलार्क ने क्रियाकल्प शब्द को क्रियाकल्प इति ''काव्याकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः'' इस अर्थ में किया है। इससे प्रतीत होता है कि कलाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ क्रियाकल्प शब्द काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यह नाम अत्यधिक प्रचलित नहीं हुआ। आचार्य वात्स्यायन ने साधारण अधिकरण में प्रस्तुत विद्यासमुद्देश प्रकरण में क्रियाकल्प का उल्लेख किया। क्रियाकल्प अर्थात् काव्यालंकारशास्त्र के ज्ञान की कला।

काव्य के शास्त्र विषयक विचार के प्रवर्तन के सन्दर्भ में काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्रीय प्रौढ़ ग्रन्थ काव्यमीमांसा में पौराणिक आधार का आश्रय लिया है। इस वर्णन के अनुसार भगवान श्रीकण्ठ ने काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी और वैकुण्ठ इत्यादि अपने चौसठ शिष्यों को दिया। इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश भगवान परमेष्ठी द्वारा उनके इच्छाजन्य शिष्यों को दिया गया जिनमें देववन्ध सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था। काव्यपुरुष को त्रिकालज्ञ और दिव्यदृष्टि से सम्पन्न जानकर ब्रह्म ने उसे आज्ञा दी कि वह सर्वजनहित की कामना से भू-भुवः और स्वर्ग निवासनी प्रजा में काव्यविद्या का प्रचार करे। काव्यपुरुष ने काव्यविद्या को अट्ठारह भागों में विभक्त कर सहस्त्रक्ष आदि दिव्य स्नातकों को उपदिष्ट किया। उन शिष्यों ने काव्यविद्या को पृथक-पृथक् भागों में विशेष योग्यता प्राप्त कर पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की। इन स्नातकों में सहस्त्रक्ष ने कविरहस्य, उक्तिगर्भ ने औक्तिक, सुवर्णनाभ ने रीतिनिर्णय, प्रचेता ने आनुप्रासिक, यम ने यमक, चित्रंगद ने चित्र, शेष ने शब्दश्लेष, पुलत्स्य ने वास्तव, औपकायन ने औपम्य, पराशर ने अतिशय, उत्थ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने उभयालंकारकारिका, कामदेव ने वैनोदिक, भरत ने रूपक निर्णय, उपमन्यु ने गुणौपादानिक तथा कुचुमार ने औपनिषदिक नामक पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार राजशेखर ने काव्यशास्त्र के उद्गम के ऊपर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। इस आख्यान में काव्यशास्त्र की दैवी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। काव्यमीमांसा में वर्णित काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का आख्यान पौराणिक काव्यात्मक कल्पनाओं की सृष्टि है।

(क) काव्यशास्त्रीय वैदिक परम्परा

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वेद सभी विद्याओं की उत्पत्ति के मूल हैं। इसी दृष्टि से काव्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वेद में अन्वेषण करने का प्रयत्न किया गया है। साक्षात् काव्यशास्त्र का वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदों में भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन छः विद्याओं की गणना है पर काव्यशास्त्र की नहीं परन्तु वेद को देव का अमर काव्य कहा गया है। 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। वेदों में अनेक स्थानों पर कवि शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में 'अरंकृतिः' शब्द का प्रयोग मिलता है। महर्षि वभिष्ठ इन्द्र से कहते हैं -

का ते अस्त्यरंकृति सूक्तैः।

काव्यशास्त्र में काव्यसौन्दर्य के आधायक जिन गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है वे सभी तत्त्व का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप से वेद में पाये जाते है। डा. काणे का मत है कि ऋग्वैदिक कवियों ने उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकारों का केवल प्रयोग नहीं किया वरन् काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी उन्हें कुछ ज्ञान था। प्रस्तुत मन्त्र में मन्त्रदृष्टा ऋषि द्वारा किया गया उपमा का प्रयोग भी प्रशंसनीय है–

उतत्त्वः पश्यन न ददर्श वाच उतत्त्वः शृण्वन् न शृणोत्येननाम् उतो त्व स्मै तन्वं विससे जायेव पत्ये उक्ती सुवासा।

इसी प्रकार 'उषा हस्नेव निर्णीते अप्सः' में उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग है। इसी प्रकार यह मन्त्र भी सुन्दर उदाहरण है यथा–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्धत्ति अनश्नन्नयो अभिचाकशीति।

प्रस्तुत मंत्र में पीपल पर रहने वाले दो पक्षियों का वर्णन है जिनमें एक तो पीपल के मीठे फल खा रहा है दूसरा बिना फल भक्षण के आनन्दमग्न है। इन पक्षियों के माध्यम से जीवात्मा तथा परमात्मा का चित्रण किया गया है। जीव इन्द्रिय सुखों का भोग करता है तथा परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। यहाँ विभावना का सुन्दर उदाहरण है। इसके अतिरिक्त रूपक, अनुप्रास, विशेषोक्ति का प्रयोग सुस्पष्ट है। अन्य संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में भी काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं प्राप्त होता है। परवर्ती काल में छः वेदांगों का विकास हुआ उनमें काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों का न्यूनाधिक प्रतिपादन दृष्टिगत होता है। निरुक्त में यास्क ने उपमा के पाँच भेदों–भूतोपमा, सिद्धोपमा, कर्मोपमा, लुप्तोपमा का उल्लेख किया है। साथ ही अपने पूर्ववर्ती आचार्य गर्ग के उपमानिरूपक लक्षण को उद्धृत किया है।

आचार्य यास्क ने 'अथाप्युपमार्थे भवित' की व्याख्या करते हुए इव, यथा, न, चित, नु तथा आ के प्रयोगों की सार्थकता सिद्ध की है। निरुक्त में पारिभाषिक अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु यास्क ने ''अलंरिष्णु' शब्द को अलंकृत करने के स्वभाववाला के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है। पाणिनि के युग तक उपमा का प्रयोग स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। यथा, वा, इव का प्रयोग तत्र तस्येव, तेन तुल्यं क्रिया चेद्धति आदि सूत्रों में व्याख्यायित हुआ है।

'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः व्याकरणशास्त्र की देन है। अभिधा, लक्षणा शब्दशक्तियों को सर्वप्रथम वैयाकरणों ने परिभाषित किया। व्यंजना शक्ति भी स्फोटसिद्धान्त पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि वेदाग् निरुक्त तथा व्याकरण में काव्यशास्त्र का सम्बन्ध है। इस प्रकार वेद तथा वेदांगों में काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों के बीज पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

(ख) काव्यशास्त्रीय लौकिक परम्परा

ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व उत्तम प्रकार की काव्य रचना हुई इसके पर्याप्त प्रमाण है। रामायण और महाभारत इन दोनों महाकाव्यों में उत्तम प्रकार की काव्यरचना मिलती है। महाभारत काव्य की अपेक्षा धर्मशास्त्र है फिर भी यह अनेक कवियों का उपजीव्य रहा है। रामायण अपने उद्देश्य, स्वरूप, विषय की दृष्टि से वास्तव में काव्य है। जहाँ तक काव्य रचना और काव्य समीक्षा के सामान्य सिद्धान्तों के विकास का प्रश्न है। वाल्मीकीय रामायण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसे आदि काव्य और इसके रचयिता को आदि कवि होने का सम्मान प्राप्त है। उदात्त शैली के ऐसे महान काव्यात्मक प्रयास के साथ काव्य विवेचन के सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयास स्वभाविक है।

रामायण में इस दिशा का कुछ संकेत उपलब्ध हैं। रामायण तथा महाभारत के रूप में काव्यत्व का समृद्ध रूप सामने होने पर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना का मार्ग बड़ी स्पष्टता के साथ प्रशस्त हुआ होगा ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

यद्यपि इस समय संस्कृत काव्यशास्त्र की स्वतन्त्र रचना नहीं हुयी फिर भी कुछ साक्ष्य उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में भी पर्याप्त काव्यरचना हुयी थी। महाकाव्य का स्वरूप निरूपण 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर किया गया। रूद्रट के टीकाकार नामिसाधु ने पाणिनि के नाम से 'पातालविजय' नामक महाकाव्य का उल्लेख किया है– तथाहि पाणिनेः पतालविजये महाकाव्ये–''सन्ध्यावधूंगृह्यकरेण''। जबकि राजशेखर उन्हीं नाम से जाम्बवतीजय काव्य को उद्धृत करते हैं।

स्वस्ति पणिनये तस्मै यस्य रुद्र प्रसादतः।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवती जयः।

सुवृत्ततिलक में क्षेमेन्द्र ने उपजाति में पाणिनि के वैशिष्ट्य प्राप्ति की चर्चा की है।

कात्यायन के वार्तिक में आख्यायिका शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि आख्यायिका नामक काव्यांग कात्यायन से पूर्व प्रचलित हो चुका था। महाभाष्य में 'वारुरुचं काव्यम्' का उल्लेख आता है। साथ ही वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक आख्यायिकाओं का भी उल्लेख है। पतंजलि ने कंसवध तथा बलिबन्धन की कथाओं पर दो कृतियों तथा उसके नाटकीय प्रदर्शन की चर्चा की है।

इन तथ्यों से यह सूचित होता है कि पतंजलि से पूर्व पर्याप्त मात्रा में काव्य-आख्यायिका तथा नाटकों का निर्माण हुआ था। भरत का नाट्यशास्त्र वर्तमान काल में काव्यशास्त्र का प्राचीनतम् ग्रन्थ उपलब्ध है। किन्तु ऐसे साक्ष्य प्राप्त हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख होते हुए उसका समुचित शास्त्रीय निरूपण भरत कृत नाट्यशास्त्र से पहले प्राप्त नहीं होता है। नाट्शास्त्र के पश्चात् काव्यविवेचन सम्बन्धित ग्रन्थों के प्रणयन की परम्परा प्राप्त होती है और काव्यशास्त्रीय धारणाओं का विकास उपलब्ध होता है। विवेचन की दृष्टि से इसको तीन भागों में विभक्त कर उसके विकास का अध्ययन किया जा सकता है-

(1) प्राचीन युग–आचार्य भरत से आचार्य रुद्रट

(2) मध्य युग–आचार्य आनन्दवर्धन से पण्डितराज जगन्नाथ तक

(3) आधुनिक युग

(क) पूर्वार्द्ध परम्परा – आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय से पण्डित छज्जूरामशास्त्री विद्यासागर

(ख) उत्तरार्द्ध परम्परा – स्वामी करपात्री से वर्तमान काल तक

आधुनिक हिन्दी पद्य का इतिहास

आधुनिक काल 1850 से हिंदी साहित्य के इस युग को भारत में राष्ट्रीयता के बीज अंकुरित होने लगे थे। स्वतंत्रता संग्राम लड़ा और जीता गया। छापेखाने का आविष्कार हुआ, आवागमन के साधन आम आदमी के जीवन का हिस्सा बने, जन संचार के विभिन्न साधनों का विकास हुआ, रेडिओ, टी. वी. व समाचार पत्र हर घर का हिस्सा बने और शिक्षा हर व्यक्ति का मौलिक अधिकार। इन सब परिस्थितियों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर अनिवार्यतः पड़ा। आधुनिक काल का

हिंदी पद्य साहित्य पिछली सदी में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा, जिसमें अनेक विचार धाराओं का बहुत तेजी से विकास हुआ। जहां काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग, नयी कविता युग और साठोत्तरी कविता इन नामों से जाना गया, छायावाद से पहले के पद्य को भारतेंदु हरिश्चंद्र युग और महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के दो और युगों में बांटा गया। इसके विशेष कारण भी हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र युग की कविता (1850-1900)

ईस्वी सन 1850 से 1900 तक की कविताओं पर भारतेंदु हरिश्चंद्र का गहरा प्रभाव पड़ा है। वे ही आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह हैं। उन्होंने भाषा को एक चलता हुआ रूप देने की कोशिश की। आपके काव्य-साहित्य में प्राचीन एवं नवीन का मेल लक्षित होता है। भक्तिकालीन, रीतिकालीन परंपराएं आपके काव्य में देखी जा सकती हैं तो आधुनिक नूतन विचार और भाव भी आपकी कविताओं में पाए जाते हैं। आपने भक्ति-प्रधान,शृंगार-प्रधान, देश-प्रेम-प्रधान तथा सामाजिक-समस्या-प्रधान कविताएं की हैं। आपने ब्रजभाषा से खड़ीबोली की ओर हिंदी-कविता को ले जाने का प्रयास किया। आपके युग में अन्य कई महानुभाव ऐसे हैं जिन्होंने विविध प्रकार हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। इस काल के प्रमुख कवि हैं-

भातेन्दु हरिश्चन्द्र
प्रताप नारायण मिश्र
बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
राधाचरण गोस्वामी
अम्बिका दत्त व्यास

पं महावीर प्रसाद द्विवेदी युग की कविता (1900-1920)

सन 1900 के बाद दो दशकों पर पं महावीर प्रसाद द्विवेदी का पूरा प्रभाव पड़ा। इस युग को इसीलिए द्विवेदी-युग कहते हैं। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में आप उस समय पूरे हिंदी साहित्य पर छाए रहे। आपकी प्रेरणा से ब्रज-भाषा हिंदी कविता से हटती गई और खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। भाषा को स्थिर, परिष्कृत एवं व्याकरण-सम्मत बनाने में आपने बहुत परिश्रम किया। कविता की दृष्टि से वह इतिवृत्तात्मक युग था। आदर्शवाद का बोलबाला

रहा। भारत का उज्ज्वल अतीत, देश-भक्ति, सामाजिक सुधार, स्वभाषा-प्रेम वगैरह कविता के मुख्य विषय थे। नीतिवादी विचारधारा के कारणशृंगार का वर्णन मर्यादित हो गया। कथा-काव्य का विकास इस युग की विशेषता है। भाषा खुरदरी और सरल रही। मधुरता एवं सरलता के गुण अभी खड़ी-बोली में आ नहीं पाए थे। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस युग के यशस्वी कवि हैं। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसी युग में ब्रज भाषा में सरस रचनाएं प्रस्तुत कीं। इस युग के प्रमुख कवि-

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
रामचरित उपध्याय
जगन्नाथ दास रत्नाकर
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'
श्रीधर पाठक
राम नरेश त्रिपाठी
मैथिलीशरण गुप्त
लोचन प्रसाद पाण्डेय
सियारामशरण गुप्त

छायावादी युग की कविता (1920-1936)

सन 1920 के आसपास हिंदी में कल्पनापूर्ण स्वछंद और भावुक कविताओं की एक बाढ़ आई। यह यूरोप के रोमांटिसिज्म से प्रभावित थी। भाव, शैली, छंद, अलंकार सब दृष्टियों से इसमें नयापन था। भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद लोकप्रिय हुई इस कविता को आलोचकों ने छायावादी युग का नाम दिया। छायावादी कवियों की उस समय भारी कटु आलोचना हुई परंतु आज यह निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक हिंदी कविता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि इसी समय के कवियों द्वारा हुई। जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा इस युग के प्रधान कवि हैं।

उत्तर-छायावाद युग-(1936-1943)

यह काल भारतीय राजनीति में भारी उथल-पुथल का काल रहा है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, कई विचारधाराओं और आन्दोलनों का प्रभाव इस काल की कविता पर प डॉ. द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणामों के प्रभाव से भी इस

काल की कविता बहुत हद तक प्रभावित है। निष्कर्षत:राष्ट्रवादी, गांधीवादी, विप्लववादी, प्रगतिवादी, यथार्थवादी, हालावादी आदि विविध प्रकार की कवितायें इस काल में लिखी गई। इस काल के प्रमुख कवि हैं–

माखनलाल चतुर्वेदी
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
सुभद्रा कुमारी चौहान
रामधारी सिंह 'दिनकर'
हरिवंश राय 'बच्चन'
भगवतीचरण वर्मा
नरेन्द्र शर्मा
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
शिवमंगल सिंह 'सुमन'
नागार्जुन
केदारनाथ अग्रवाल
त्रिलोचन
रांगेयराघव

प्रगतिवादी युग की कविता (1936)

छायावादी काव्य बुद्धिजीवियों के मध्य ही रहा। जन–जन की वाणी यह नहीं बन सका। सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलनों का सीधा प्रभाव इस युग की कविता पर सामान्यत: नहीं पड़ा। संसार में समाजवादी विचारधारा तेजी से फैल रही थी। सर्वहारा वर्ग के शोषण के विरुद्ध जनमत तैयार होने लगा। इसकी प्रतिच्छाया हिंदी कविता पर भी पड़ी और हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी युग का जन्म हुआ। 1930 के बाद की हिंदी कविता ऐसी प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित है। 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के गठन के साथ हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित प्रगतिवादी आन्दोलन की शुरुआत हुई .इसका सबसे अधिक दूरगामी प्रभाव हिन्दी आलोचना पर पड़ा। मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास को वर्ग–संघर्ष के दघष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयास आरंभ किया। प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के साथ नयी कविता के कवि मुक्तिबोध और शमशेर को भी रखा जाता है।

प्रयोगवाद-नयी कविता युग की कविता (1943-1960)

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात संसार भर में घोर निराशा तथा अवसाद की लहर फैल गई। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 'अज्ञेय' के संपादन में 1943 में 'तार सप्तक' का प्रकाशन हुआ। तब से हिंदी कविता में प्रयोगवादी युग का जन्म हुआ ऐसी मान्यता है। इसी का विकसित रूप नयी कविता कहलाता है। दुर्बोधता, निराशा, कुंठा, वैयक्तिकता, छंदहीनता के आक्षेप इस कविता पर भी किए गए हैं। वास्तव में नयी कविता नयी रुचि का प्रतिबिंब है। इस धारा के मुख्य कवि हैं-

अज्ञेय,
गिरिजाकुमार माथुर,
प्रभाकर माचवे,
भारतभूषण अग्रवाल,
मुक्तिबोध,
शमशेर बहादुर सिंह,
धर्मवीर भारती,
नरेश मेहता,
रघुवीर सहाय,
जगदीश गुप्त,
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना,
कुंवर नारायण,
केदार नाथ सिंह।

इस प्रकार आधुनिक हिंदी खड़ी बोली कविता ने भी अल्प समय में उपलब्धि के उच्च शिखर सर किए हैं। क्या प्रबंध काव्य, क्या मुक्तक काव्य, दोनों में हिंदी कविता ने सुंदर रचनाएं प्राप्त की हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में भी कई सुंदर रचनाएं हिंदी को मिली हैं। आकार और प्रकार का वैविध्य बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करता है। संगीत-रूपक, गीत-नाटय वगैरह क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। कविता के बाह्य एवं अंतरंग रूपों में युगानुरूप जो नये-नये प्रयोग नित्य-प्रति होते रहते हैं, वे हिंदी कविता की जीवनी-शक्ति एवं स्फूर्ति के परिचायक हैं।

प्रयोग

यद्यपि व्यापक रूप से छन्दोबद्ध रचना मात्र के लिए 'कविता' शब्द का प्रयोग होता है, संकीर्ण अर्थ में, आधुनिक काल में विशेष रूप से, कविता शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत आकार में छोटे, ऐसे पद्य विशेष के लिए किया जाता है, जो आधुनिक गीति, प्रगीति या मुक्तक के अनेकानेक प्रकारों में से किसी रूप में रचा गया हो। पद्य की ऐसी रचनाओं का पृथक् निर्देश करने के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। 'काव्य' शब्द जब किसी रचना विशेष के लिए प्रयोग होता है, तब उससे अपेक्षाकृत बड़ी, प्राय: सदैव ही प्रबन्धात्मक रचना का अर्थ सूचित होता है। काव्य और कविता शब्द के प्रयोग का एक अन्तर यह भी है कि जहाँ काव्य सामान्यत: साहित्य के पर्यायवाची अर्थ में ऐसी रचनाओं को भी कह सकते हैं, जो पद्य में न रची गई हों, वहीं कविता अनिवार्य रूप से पद्यात्मक लय और तालयुक्त शब्दावली की सूचना देती है, भले ही उसमें काव्य की आन्तरिक विशेषता विद्यमान न हो और वह मात्र पद्यबद्ध हो। इसके अतिरिक्त काव्य का अभिधान ऐसी रचनाओं को नहीं दिया जा सकता, जो अरस्तु के 'पोइटिक्स' में निर्दिष्ट 'पोइट्री' से भिन्न 'वर्स' मात्र है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल पूर्व तक कविता शब्द का प्रयोग 'कविताई' या 'कवि-ता' (कवि-कर्म) के अर्थ में ही होता था। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की भूमिका में कहा है-

'चली सुभग कविता सविता सी। राम बिमल जस जल भरिता सी'।

इसी अर्थ में उन्होंने 'भनिति' शब्द का भी कई बार प्रयोग किया है। इसी अर्थ में कहा गया है कि 'कविता' कर्ता तीन हैं- तुलसी, केशव, सूर।

'कविता' खेती इन लूनी सीला बिनत मजूर।

अठारहवीं शती में एक और प्रसिद्ध कवि भिखारीदास ने लिखा था-

'आगे के सुकवि रीझि हैं तौ 'कविताई', न तो राधिका कान्हा के सुमिरन को बहानी है'।

भिखारीदास ने इसी अर्थ में काव्य शब्द का भी प्रयोग किया है। 'इनके काव्य में मिली भाषा विविध प्रकार की है। हिन्दी में कविता शब्द का यह प्रयोग परम्परानुमोदित है, यद्यपि कदाचित यह कथन अयुक्त न होगा कि संस्कृत साहित्य में कविता की अपेक्षा काव्य शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का योगदान

संकीर्ण अर्थ में किसी रचना विशेष के लिए कविता का प्रयोग आधुनिक काल में ही होने लगा है। प्राचीन काल में अधिकतर या तो प्रबन्ध काव्य की रचना होती थी या मुक्तक काव्य की। एक से अधिक छन्दों में एक विषय पर छोटी पद्य रचनाएँ स्तोत्र, स्तवन, प्रशस्ति, माहात्म्य आदि के रूप में मिलती है। हिन्दी के मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी इस प्रकार की स्तोत्रदि रचनाएँ की हैं और यह क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक चला आया है। परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सामयिक विषयों पर विचारोत्तेजक और उद्बोधनपूर्ण स्फुट रचनाओं की नवीन पद्धति चलाई। उनकी 'भारत-भिक्षा', 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती', 'श्रीराजकुमार-शुभागमन-वर्णन', 'मानसोपायन', 'वर्षाविनोद' आदि रचनाओं ने हिन्दी में पद्य निबन्धों की उस परम्परा का सूत्रपात किया, जो आधुनिक काल में अनेकधा विकसित हुई। ऐसी रचनाओं की ही जातिवाचक संज्ञा कविता है, जो अंग्रेजी की 'पोइम' और उर्दू की 'नज्म' का पर्याय है। भारतेन्दु काल में देशभक्ति, राजभक्ति, समाज सुधार और प्राकृतिक वर्णन सम्बन्धी असंख्य गम्भीर और व्यंग्यात्मक कविताएँ रची गईं।

विकास

द्विवेदी काल में सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इन कविताओं का प्रचलन और अधिक हो गया। वस्तुतः उन अनेक आधुनिक रूपों में कविता भी है, जिसका उद्गम और विकास समाचार पत्रों और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ है। परन्तु कविताएँ इतिवृत्त, विवरण, शिक्षा और उद्देश्य विषयक ही नहीं, भावात्मक भी हो सकती है। यह छायावाद की उन असंख्य कविताओं से सिद्ध हो गया, जो आधुनिक गीतिकाव्य के विविध प्रकार-भेदों के अंतर्गत आती है। 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' के आन्दोलनों के अंतर्गत ऐसी ही रचनाएँ हुई हैं, जो पृथक-पृथक् कविता नाम से पुकारी जाती हैं।

2

काव्यशास्त्र का स्वरूप एवं समस्याएँ

प्राचीन साक्ष्यों में काव्यशास्त्र का स्वरूप

अलंकारों की, विशेषतः उपमा, रूपक, स्वाभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति की, उपलब्धि ऋग्वेद के मंत्रों में निश्चित रूप से होती है, परन्तु वैदिक युग में इस शास्त्र के आविर्भाव का प्रमाण नहीं मिलता। निरुक्त के अनुशीलन से "उपमा" का साहित्यिक विश्लेषण यास्क से पूर्ववर्ती युग की आलोचना की परिणत फल प्रतीत होता है। यास्क ने किसी प्राचीन आचार्य के उपमालक्षण का निर्देश ही नहीं किया है, प्रत्युत कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, अर्थोपमा (लुप्तोपमा) जैसे मौलिक उपमा-प्रकारों का भी दृष्टांतपुरःसर वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि अलंकार का उदय यास्क (सप्तम शती ई.पू.) से भी पूर्व हो चुका था। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नंदिस्वामी के नाम तरुणवाचस्पति ने आद्य आलंकारिकों में अवश्य लिए हैं परंतु इनके ग्रंथ और मत का परिचय नहीं मिलता। राजशेखर द्वारा "काव्यमीमांसा" में निर्दिष्ट बृहस्पति, उपमन्यु, सुवर्णनाभ, प्रचेतायन, शेष, पुलस्त्य, पाराशर, उतथ्य आदि अष्टादश आचार्यों में से केवल भरत का "नाट्यशास्त्र" ही आजकल उपलब्ध है। अन्य आचार्य केवल काल्पनिक सत्ता धारण करते हैं। इतना तो निश्चित है कि यूनानी आलोचना के उदय शताब्दियों पूर्व "अलंकारशास्त्र" प्रामाणिक शास्त्रपद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

काव्यकृति मूलतः तिहरे आयाम से जुड़ी है–काव्य, काव्यकर्ता (कवि), काव्यानुशीलक। जहाँ तक नाट्यरूप काव्य का सम्बन्ध है, काव्यकर्ता के साथ उसमें नाट्य प्रयोगकर्ता नटादि का भी समावेश हो जाता है। काव्यशास्त्रीय चिन्तकों का ध्यान इन सभी पक्षों की ओर सदा जाता रहा है। सबसे पहला प्रश्न जो कवि के संबंध में उठता है, वह यह है कि कवि या कलाकार अन्य मानव, धर्मोपदेशक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक विचारक से किस बात में विशिष्ट है और क्यों खास प्रकृति के व्यक्ति ही कवि या कलाकार बन पाते हैं? दूसरे शब्दों में, कवित्वशक्ति के हेतु क्या है। सुकरात और प्लेटो कवित्वशक्ति को दैवी आवेश की देन मानते हैं, अध्ययन और अभ्यास का प्रतिफल नहीं। भारत के काव्यशास्त्री काव्यरचना में प्रतिभा को प्रधान हेतु मानते हुए भी इसके साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कम महत्व नहीं देते। परम्परावादी आलोचक केवल प्रतिभा को काव्यशक्ति का हेतु नहीं मानते। उधर पश्चिम के रोमैंटिक विचारक कलाकृति की मूल प्रेरणा एकमात्र प्रतिभा को ही मानते हैं। फिर भी इस बात में सभी चिंतक एकमत हैं कि कवि विशिष्ट प्रतिभाशील व्यक्ति है, जो अपनी प्रतिभा के माध्यम से काव्य के रूप में नई सृष्टि की उद्‌भावना करता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, कविता का प्रयोजन क्या है? अखिर कवि कविता क्यों करता है? इस सम्बन्ध में चिंतकों के दो दल हैंदृ परंपरावादी चिंतक काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन नैतिक उपदेश की प्रतिष्ठा मानते हैं। काव्य द्वारा कवि किन्ही मूल्यों की स्थापना करना चाहता है, ठीक उसी तरह जैसे धार्मिक उपदेशक। किन्तु फर्क यह है कि उसकी कृति शैलीशिल्प की दृष्टि से रमणीय और रसमय होने के कारण धर्मग्रंथों या नीतिग्रंथों से विशिष्ट बन जाती है। स्वच्छंदतावादी चिंतक इसे नहीं स्वीकारता। वह कवि को उपदेशक नहीं मानता। उसके अनुसार कवि सर्जक है, सृष्टिकर्ता है, जो ब्रह्मा से भी विशिष्ट है। वह अपनी सृष्टि, अपनी कलाकृति के माध्यम से हमारे सामने रखता है। वस्तुतः वह अपनी अनुभूतियों को काव्य के द्वारा वाणी देना चाहता है। काव्य और कुछ नहीं, उसकी समस्त अनुभूतियों का सारभत तत्त्व और उसके अंतस्थ में उमड़ते–घुमड़ते भावों का स्वतः बहा हुआ परिवाह मात्र है। पूर्व और पश्चिम के प्रायः सभी मतमतांतर इन दो खेवों में मजे से समेटे जा सकते हैं।

काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष वह कृति है, जो हमारे समक्ष चाक्षुष (नाटक में), श्रावण तथा बौद्धिक सन्निकर्ष का माध्यम बनती है और इस माध्यम से वह हमारे मन या संवित् (चेतना) को प्रभावित करती है। अतः

काव्यशास्त्रीय चिंतन में यह वह प्रधान पक्ष है जिसके अनेक पहलुओं को लेकर पूर्व और पश्चिम के विचारक पिछले अढ़ाई हजार वर्षो से ऊहापोह करते आ रहे हैं। सबसे पहला सवाल जो काव्य के कथ्य के विषय में उठता है, वह यह है कि काव्य में वर्णित घटनाएँ आदि कहाँ तक वैज्ञानिक सत्य से मेल खाती हैं। यह प्राय: सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं कि काव्य में तथ्य-कथन-प्रणाली का आश्रय नहीं लिया जाता। उसमें जिस सत्य का समुद्घाटन होता है, वह वास्तविक सत्य न होकर संभाव्य सत्य होता है। इसी आधार पर काव्यविरोधी कवि की कल्पना को भ्रमित या सत्य से बहुत दूर घोषित करते हैं। प्लेटो ने तो इसे सत्य से 'दुहरा दूर' सिद्ध किया है। भारत के विचारकों ने काव्यकृति को भ्रान्ति नहीं माना हैं, यद्यपि एक स्थान पर भट्ट लोल्लट ने रससूत्र की व्याख्या करते हुए नाटक के अभिनय में राम आदि का अनुकरण करते नटों में राम आदि के भ्रांतिज्ञान का संकेत किया है। पश्चिम में इधर मनोविज्ञान के विकास के परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्रीय चिंतन ने भ्रांतिवाले इस पक्ष को और अधिक मजबूत किया है। कहा जाता है, कला मात्र भ्रांति है (आर्ट इज नथिंग बट इल्यूजन)। इसी से मिलता जुलता एक और मत भी है। कला कुछ नहीं महज सम्मोहन है (आर्ट इज नथिंग बट हेल्यूसिनेशन)। इधर नृतत्त्व विज्ञान के अध्ययन के आधार पर भी काव्य की सम्मोहिनी शक्ति पर जोर दिया जाने लगा है और यह मत प्रबल हो उठा है कि काव्य या कला में पुराने आदिम समाज के ओझाओं के मंत्रों की तरह जादुई असर होता है (आर्ट इज मैजिक)।

यहीं यह सवाल उठता है कि आखिर यह भ्रान्ति, सम्मोहन या जादुई असर, अगर हम पुराने विद्वानों के शब्द को उधार लेना चाहें तो काव्य का "चमत्कार', किन तत्त्वों के कारण पैदा होता है? काव्य मूलत: भाषा में निबद्ध होता है। भाषा शब्द और अर्थ का संश्लिष्ट रूप है। अत: पहला सवाल यह उठेगा कि काव्य केवल शब्दमय है या शब्दार्थमय। भारत में ये दोनों मत प्रचलित हैं। भामह, कुन्तक, मम्मट जैसे चिंतक शब्द और अर्थ के सम्मिलित तत्त्व को काव्य मानते हैं, केवल शब्द को या केवल अर्थ को नहीं, क्योंकि काव्य में दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस मत के अनुसार काव्य को चमत्कारशाली या सम्मोहक बनाने के लिए शब्द और अर्थ दोनों की रमणीयता पर कवि को समान बल देना होगा। दूसरा मत काव्य की प्रभावान्विति में शब्द पर, अर्थात् उसके बौद्धिक पक्ष की अपेक्षा श्रवण पक्ष पर, अधिक जोर देता है। प्रसिद्ध संस्कृत कवि पंडितराज जगन्नाथ का यही मत है। यह मत उन लोगों का

जान पड़ता है, जो काव्य की लय (रिद्म), शब्दचयन, छन्द और श्रावण बिंबवत्ता पर अधिक जोर देते हैं। पश्चिम के स्वच्छंदतावादी समीक्षक, विशेषत: फ्रांस के प्रतीकवादी कवि और आलोचक, साफ कहते हैं कि काव्य अर्थ या विचार से नहीं बनता बल्कि शब्दों से बनता है (पोयट्री इज नाट मेड ऑव आइडियाज बट ऑव वर्ड्स)। अगर इस मत की तुलना हम ओझाओं के निरर्थक शाबरजाल मंत्रों से करें तो पता चलेगा कि यहाँ भी अर्थ का कोई महत्व नहीं, अपितु शब्दों की लय, झाड़ फूँक करने वाले ओझा के मंत्रोच्चार का लहजा ही रोगी को प्रभावित कर मनश्चिकित्सा करता कहा जाता है। यही पद्धति मनोविश्लेषणात्मक उपचार की भी है।

काव्य के प्रभाव को पैदा करने में शब्द और अर्थ का विशेष महत्व माना गया है, इसलिए काव्यशास्त्रीय चिंतन में शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करना लाजमी हो जाता है। शब्द का अपने परम्परागत अर्थ से नियत सम्बन्ध होता है। इस संबंध को हमारे यहाँ अभिधा व्यापार कहा गया हैं। किन्तु भाषा में इस व्यापार के अतिरिक्त अन्य व्यापार भी कार्य करता देखा जाता है, जहाँ शब्द अपने नियत अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति भी करा सकता है, जिसे लक्षणा व्यापार कहते हैं। अरस्तू ने भी भाषा के इन दोनों व्यापारों का विवेचन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रिटोरिक्स' में किया है। काव्यभाषा में वस्तुत: शब्द अभिधापरक न होकर लाक्षणिक होते हैं। इस बात पर इधर पश्चिम में अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा है और इसकी शुरूआत स्वच्छन्दतावादी कवि और विचारक कॉलरिज ने की थी। उसके अनुसार समस्त काव्यभाषा लाक्षणिक (मेटाफरिक) है। यह मत आई.ए. रिचर्ड्स, एम्पसन आदि अन्य आधुनिक काव्यचिंतकों ने भी स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार काव्य में उपात्त बिंब, रूपक, प्रतीक और मिथक सभी भाषा की लाक्षाणिक प्रक्रियाएँ हैं और इतना ही नहीं, काव्य का छंदोविधान, लय और शब्दा या का प्रयोजन भी सर्वथा लाक्षणिक है। इस मत से मिलता-जुलता मत हमारे यहाँ ध्वनिवादी काव्यशास्त्री का है, जो काव्यार्थप्रतीति में लक्षणा से भी एक कदम आगे बढ़कर व्यंजना की परिकल्पना करते हैं और काव्य के समस्त अवयवों को अनुभूति या रसरूप व्यंग्य का व्यंजक मानते हैं। उधर वक्रोक्तिवादी कुन्तक भी काव्य में उपात्त शब्द और अर्थ के व्यापार को साधारण अभिधा न मानकर विचित्रभिधा या वक्रोक्ति कहते हैं और इस वक्रोक्ति का विनियोग वर्ण, पद, वाक्य, अर्थप्रकरण, प्रबंध जैसे काव्यांगों में निर्दिष्ट करते हैं। कुंतक के इस विभाजन की

मूल नीव वस्तुतः वामन के रीतिवादी सिद्धांत पर टिकी है। यह काव्य की संघटना या संरचना का विश्लेषण कर उसके उन अंगों के सम्मोहक तत्त्व को समुद्घाटित करती है, जो काव्य सुनने या पढ़ने वाले को प्रभावित करते हैं। यह विश्लेषण एक ओर व्याकरण और भाषाशास्त्र से और दूसरी और कलाशास्त्रीय चिंतन से जुड़ा हुआ है। इधर अमरीका में जो संरचनावादी पद्धति की नई काव्यसमीक्षा चल पड़ी है, वह उसी दृष्टिकोण को लेकर चली जिसका सूत्रपात संस्कृत काव्यों के विवेचन के संबंध में हमारे यहाँ अपने-अपने ढंग से वामन, आनन्दवर्धन और कुन्तक कर चुके हैं।

निबन्ध की सीमा देखते हुए यहाँ काव्य के विभिन्न अंगों पर समय-समय पर हुए सभी विचारों का विवेचन करना संभव नहीं है। काव्य के मूलतः दो पक्ष हैं। एक है कथ्यपक्ष, जिसे हम विषयवस्तु के विशेष प्रकार के अभिधान में और उससे अभिव्यक्त कलात्मक अनुभूति या रसादि की आंतरिक संवेदना में पाते हैं। दूसरा है काव्य का शैलीपक्ष जिसमें लय, छन्द, शब्दचयन, गुण और अलंकार की योजना का विवेचन होता है। इन तत्त्वों पर पूर्व और पश्चिम के विचारकों ने विस्तार से चिंतन किया है। किन्तु यहाँ इतना समझा लेना होगा कि काव्य की प्रभावान्विति समग्र होती है। ये सभी अवयव अपने अपने ढंग से उस समग्र प्रभावान्विति में योगदान करते देखे जाते हैं।

हमारे यहाँ अलंकारवादी और रीतिवादी समीक्षक इस समग्र प्रभावान्विति वाले मत को नहीं मानते। वे काव्य का सौंदर्य या चमत्कार शब्द अर्थ के अलंकार में या विशिष्ट पदरचना में मानते हैं। किंतु वक्रोक्तिवादी और ध्वनिवादी प्रभाव की दृष्टि से काव्य की समग्रता को लेकर चलते हैं, भले ही विश्लेषण की दृष्टि से वे भी उसके तत्तत् अंश की मीमांसा करते हों। पश्चिम में परंपरावादी समीक्षक इसी तरह काव्य की समग्रता को प्रभाव की दृष्टि से नहीं आँकते और काव्य में अलंकार (फिगर्स), उक्तिवैचित्र्य (विट्), दूरारूढ़ कल्पना (फैंसी) को महत्व देते देखे जाते हैं। वहाँ भी ईसा की दूसरी शती में एक ऐसा चिंतक हुआ है जिसने काव्य की इस समग्रता के सिद्धांत को प्रतिष्ठापित किया था। लोंगिनुस के उदात्त संबंधी सिद्धांत का मूल भाव यही है। पश्चिम के रोमैंटिक कवि और आलोचक भी काव्य का चमत्कार समग्रता में ही मानते हैं और कुछ ऐसी ही धारणा हिंदी के छायावादी और छायावादोत्तर आलोचकों की है। हमारे यहाँ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, औचित्य, चमत्कार जैसे विविध काव्यसिद्धांत जो चल पड़े थे, वे सब

मूलतः काव्य का सौंदर्य किस अंश में है, इसी आधार पर हैं। इनका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक होगा।

कवि और काव्य के बाद तीसरा तत्त्व काव्य का श्रोता या पाठक और नाटक का दर्शक है जिसे ध्वनिवादी के शब्दों में सहृदय कहा जाता है। सहृदय का अर्थ है समान हृदयवाला वह व्यक्ति जो काव्यानुशीलन के समय उसमें तन्मयीभूत होकर कवि के समान हृदयवाला बन जाए। उसकी यह समानहृदयता काव्य में वर्णित विशिष्ट पात्रादि या नायकादि से भी होती है। इस समानहृदयता को स्थापित करने के लिए भट्ट नायक ने साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की थी जिसे अभिनवगुप्त ने भी मान लिया है। भारत के इन रसवादियों के अनुसार काव्यानुशीलक के मानस में राग द्वेषादि रूप रज और तम गुणों का तिरोभाव हो जाता है तथा सत्य के उद्रेक से मन को विश्रांति का अनुभव होता है। अभिनवगुप्त इस स्थिति को योगियों की समाधिस्थिति के समान मानते हैं। पश्चिम में काव्य की आत्मा को रस जैसे तत्त्व के रूप में माननेवाला कोई सिद्धान्त उदित नहीं हुआ है, किन्तु वहाँ 19वीं सदी में स्वच्छन्दतावाद के उदय के कारण यह सिद्धान्त विकसित हुआ है कि काव्य का श्रोता या पाठक कवि या कविवर्णित पात्र के साथ समानुभूति (एम्पैथी) या सहानुभूति (सिम्पैथी) का अनुभव करता है, जैसी हमें शेक्सपियर के हैमलेट या मैकबेथ के साथ तथा शैली के प्रॉमिथ्युस के साथ होती है।

अपने यहाँ, रसदशा तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका अपने ढंग से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अभिनवगुप्त के यहाँ मिलता है। पर वह ढाँचा मात्र है। अभी हाल में हुए मनोविज्ञानगत शोधों के कारण इस पक्ष पर अधिक प्रकाश पड़ा है। मनोविज्ञान की एक विशेष शाखा, जिसमें शरीरक्रिया के आधार पर हमारे स्नायुकेंद्र के समुत्तेजन का अध्ययन किया जाता है और श्रावण, चाक्षुष, स्पार्शन, घ्राणज तथा रसनज बिंबों का अथवा उनकी कल्पना मात्र का हमारे मस्तिष्क पर कैसे प्रभाव पड़ता है और उससे हमारा मानस कैसे आंदोलित होता है, इसपर खोजें हुई हैं और होती जा रही हैं, जो काव्य और कलाकृति का काव्यनुशीलक पर कैसा, क्यों और कैसे प्रभाव पड़ता है, इसके विवेचन में व्यस्त हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि आज काव्यशास्त्रीय चिंतन का क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। वह एक ओर व्याकरण, भाषाशास्त्र, कलाशास्त्र, दर्शन और छन्दशास्त्र के छोरों को छूता है, तो दूसरी ओर मनोविज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान से भी जा जुड़ा है। इतना ही नहीं, जब हम काव्य के ऐतिहासिक,

सामाजिक प्रेरणास्रोतों की ओर भी ध्यान देने लगते हैं तो काव्यशास्त्र का दायरा और बढ़ जाता है और वह समाजशास्त्र, इतिहास तथा राजनीतिक चिंतन से भी जा जुड़ता है। यही कारण है कि आज के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में कई दृष्टिभंगिमाएँ मिलेंगी। कुछ ऐसी हैं, जो परंपरावादी पूर्वी या पश्चिमी साँचे में ढली हैं, कुछ पश्चिम के स्वच्छंदतावादी, कलावादी, दादावादी, भविष्यवादी या अस्तित्त्ववादी सिद्धांतों से जुड़ी हैं और कुछ या तो फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद अथवा मार्क्स के सामाजिक यथार्थवादी दर्शन से सम्बद्ध हैं।

काव्य-सम्प्रदाय

"अलंकारसर्वस्व" के टीकाकार समुद्रबन्ध ने काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों की विशिष्टता की सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है। काव्य के विभिन्न अंगों पर महत्व तथा बल देने से विभिन्न संप्रदायों की विभिन्न शताब्दियों में उत्पत्ति हुई। मुख्य सम्प्रदायों की संख्या छह मानी जा सकती है-

(1) रस सम्प्रदाय,
(2) अलंकार सम्प्रदाय,
(3) रीति या गुण सम्प्रदाय,
(4) वक्रोक्ति सम्प्रदाय,
(5) ध्वनि सम्प्रदाय,
(6) औचित्य सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों ने अपने नाम के अनुसार तत्तत् (वे वे गुण) 'काव्य की आत्मा' अर्थात् मुख्य प्राण स्वीकार किया है।

(1) रस संप्रदाय के के मुख्य आचार्य भरत मुनि हैं (द्वितीय शताब्दी) जिन्होंने नाट्यरस का ही मुख्यत: विश्लेषण किया और उस विवरण को अवान्तर आचार्यों ने काव्यरस के लिए भी प्रामाणिक माना।
(2) अलंकार संप्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह (छठी शताब्दी का पूर्वार्ध), दंडी (सातवीं शताब्दी), उद्भट (आठवीं शताब्दी) तथा रुद्रट (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) हैं। इस मत में अलंकार ही काव्य की आत्मा माना जाता है। इस शास्त्र के इतिहास में यही संप्रदाय प्राचीनतम तथा व्यापक प्रभावपूर्ण अंगीकृत किया जाता है।
(3) रीति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन (अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध) हैं जिन्होंने अपने "काव्यालंकारसूत्र" में रीति को स्पष्ट शब्दों में काव्य की

आत्मा माना है (रीतिरात्मा काव्यस्य)। दण्डी ने भी रीति के उभय प्रकार–वैदर्भी तथा गौड़ी–की अपने "काव्यादर्श" में बड़ी मार्मिक समीक्षा की थी, परन्तु उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकार की ही प्रमुखता रहती है।

(4) वक्रोक्ति संप्रदाय की उद्‌भावना का श्रेय आचार्य कुन्तक को (10वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) है जिन्होंने अपने "वक्रोक्तिजीवित" में "वक्रोक्ति" को काव्य की आत्मा (जीवित) स्वीकार किया है।

(5) ध्वनि संप्रदाय का प्रवर्तन आनन्दवर्धन (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अपने युगान्तरकारी ग्रंथ "ध्वन्यालोक" में किया तथा इसका प्रतिष्ठापन अभिनव गुप्त (10वीं शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में किया। मम्मट (11वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), रुय्यक (12वीं शताब्दी का पूर्वार्ध), हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), पीयूषवर्ष जयदेव (13वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), विश्वनाथ कविराज (14वीं शताब्दी का पूर्वार्ध), पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी का मध्यकाल)–इसी संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं।

(6) औचित्य संप्रदाय के प्रतिष्ठाता क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी का मध्यकाल) ने भरत, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के मत को ग्रहण कर काव्य में औचित्य तत्त्व को प्रमुख तत्त्व अंगीकार किया तथा इसे स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। अलंकारशास्त्र इस प्रकार लगभग दो सहस्र वर्षों से काव्यतत्त्वों की समीक्षा करता आ रहा है।

महत्व

यह शास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा और काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्गनिर्देश करता आया है। यह काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत करता है। समीक्षासंसार के लिए अलंकारशास्त्र की काव्यतत्त्वों की चार अत्यंत महत्वपूर्ण देन है जिनका सर्वांग विवेचन, अंतरंग परीक्षण तथा व्यावहारिक उपयोग भारतीय साहित्यिक मनीषियों ने बड़ी सूक्ष्मता से अनेक ग्रंथों में प्रतिपादित किया है। ये महनीय काव्य तत्त्व हैं–औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस।

औचित्य का तत्त्व लोक व्यवहार में और काव्यकला में नितांत व्यापक सिद्धांत है। औचित्य के आधार पर ही रसमीमांसा का प्रासाद खड़ा होता है।

आनन्दवर्धन की यह उक्ति समीक्षाजगत् में मौलिक तथ्य का उपन्यास करती है कि अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है और औचित्य का उपनिबंधन रस का रहस्यभूत उपनिषत् है–

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम।
औचित्योपनिधबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा (ध्वन्यालोक)॥

वक्रोक्ति लोकातिक्रांत गोचर वचन के विन्यास की साहित्यिक संज्ञा है। वक्रोक्ति के माहात्म्य से ही कोई भी उक्ति काव्य की रसपेशल सूक्ति के रूप में परिणत होती है। यूरोप में क्रोचे द्वारा निर्दिष्ट "अभिव्यंजनावाद" (एक्सप्रेशनिज्म) वक्रोक्ति को बहुत कुछ स्पर्श करनेवाला काव्यतत्त्व है।

ध्वनि का तत्त्व संस्कृत आलोचना की तीसरी महती देन है। हमारे आलोचकों का कहना है कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता जितना हमारे कानों को प्रतीत होता है, प्रत्युत वह नितांत गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। यह सुंदर मनोरम अर्थ "व्यंजना" नामक एक विशिष्ट शब्दव्यापार के द्वारा प्रकट होता है और इस प्रकार व्यंजक शब्दार्थ को ध्वनिकाव्य के नाम से पुकारते हैं। सौभाग्य की बात है कि अंग्रेजी के मान्य आलोचक एबरक्रांबी तथा रिचर्ड्स की दृष्टि इस तत्त्व की ओर अभी-अभी आकृष्ट हुई है।

रसतत्त्व की मीमांसा भारतीय आलोचकों के मनोवैज्ञानिक समीक्षापद्धति के अनुशीलन का मनोरम फल है। काव्य अलौकिक आनंद के उन्मीलन में ही चरितार्थ होता है चाहे वह काव्य श्रव्य हो या दृश्य। हृदयपक्ष ही काव्य का कलापक्ष की अपेक्षा नितांत मधुरतर तथा शोभन पक्ष है, इस तथ्य पर भारतीय आलोचना का नितांत आग्रह है। भारतीय आलोचना जीवन की समस्या को सुलझाने वाले दर्शन की छानबीन से कथमपि परांमुख नहीं होती और इस प्रकार यह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रों– "पोएटिक्स", "रेटारिक्स" तथा "ऐस्थेटिक्स"– का प्रतिनिधित्व अकेले ही अपने आप करती है। प्राचीनता, गंभीरता तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में यह पश्चिमी आलोचना से कहीं अधिक महत्वशाली है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

काव्य-लक्षण

काव्य, मनुष्य-चेतना की महत्तम सृष्टि है। काव्यशास्त्र में काव्य का विश्लेषण किया जाता है। काव्य का लक्षण निर्धारित करना ही काव्यशास्त्र का

प्रयोजन है। लक्षण का अर्थ है, 'असाधारण अर्थ'। वस्तुतः कोई कृति साहित्यिक कृति है या नहीं, यह जानना आवश्यक है और इसी के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि साहित्यिक दृष्टिकोण क्या है या साहित्य (काव्य) क्या है, उसकी परिभाषा क्या है। दूसरे शब्दों में, काव्य का वह असाधारण धर्म क्या है जिसमें काव्य, 'काव्य' कहलाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'परिभाषा' को 'लक्षण' शब्द से अभिहित किया गया है। परिभाषा (लक्षण) के तीन दोष कहे जाते हैं– अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। काव्य एवं काव्यांगों की परिभाषा करते समय सभी आचार्यों ने बड़े सजग होकर यह प्रयास किया है कि उनके द्वारा प्रतिपादित लक्षण अथवा सिद्धान्त निर्दोष हों। कुछ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'लक्षण' निम्नलिखित हैं–

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य है।) (भामह),

संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना, पदावली काव्यम् (अग्नि पुराण),

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (दंडी),

ननु शब्दार्थौ कायम् (रुद्रट),

काव्य शब्दोयं गुणलंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते (आचार्य वामन),

शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् (आनन्दवर्धन),

निर्दोषं गुणवत् काव्यं अलंकारैरलंकृतं रसान्तितम् (भोजराज),

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (मम्मट)

गुणालंकाररीतिरससहितौ दोषरहिती शब्दार्थौ काव्यम् (वाग्भट),

निर्दोषा लक्षणवी सरीतिर्गुणभूषिता, सालंकाररसानेकवृत्तिर्भाक् काव्यशब्दभाक् (जयदेव),

काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत् (आचार्य शौद्धोदनि),

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (विश्वनाथ),

गुणवदर्लकृतंच काव्यम् (राजशेखर)।

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ

नाट्यशास्त्र – भरतमुनि

काव्यप्रकाश – मम्मट

टीकाएँ

अलंकारसर्वस्व – रुय्यक
संकेत टीका – माणिक्यचंद्र सूरि (रचनाकाल 1160 ई.)
दीपिका – चंडीदास (13वीं शती)
काव्यप्रदीप – गोविंद ठक्कुर (14वीं शती का अंतभाग)
सुधासागर या सुबोधिनी – भीमसेन दीक्षित (रचनाकाल 1723 ई.)
दीपिका – जयंतभट्ट (रचनाकाल 1294 ई.)
काव्यप्रकाशदर्पण – विश्वनाथ कविराज (14वीं शती)
विस्तारिका – परमानंद चक्रवर्ती (14वीं शती)
साहित्यदर्पण – विश्वनाथ
काव्यादर्श – दण्डी
काव्यमीमांसा – कविराज राजशेखर (880-920 ई.)
दशरूपकम् – धनंजय
अवलोक – धनिक (धनंजय के लघु भ्राता)
ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन
लोचन – अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की टीका)
काव्यप्रकाशसंकेत – माणिक्यचंद्र (1159 ई)
अलंकारसर्वस्व – राजानक रुय्यक
चंद्रालोक – जयदेव
अलंकारशेखर – केशव मिश्र

संस्कृत काव्यशास्त्र की समस्याएं

काव्यशास्त्र की प्रमुख समस्या है नए अर्थ की खोज। नए अर्थ की खोज के लिए आलोचकों ने रूपतत्त्वों को मूलाधार बनाया, जबकि वास्तविकता यह है कि नया अर्थ रूप में नहीं समाज में होता है। रूप के जरिए नए अर्थ की खोज के कारण संस्कृतकाव्यशास्त्र भाववादी दर्शन की गिरफ्त में चला गया। इसके लिए रूपकेन्द्रित मॉडल को चुना गया, समाज को अर्थ की खोज में शामिल ही नहीं किया गया। इस अर्थ में काव्यशास्त्र का समूचा कार्य-व्यापार रूपों तक ही सिमटकर रह गया। मसलन्, संस्कृत के किसी आलोचक ने किसी कृति का विस्तार के साथ मूल्यांकन नहीं किया। इसके कारण संस्कृत काव्यशास्त्र आरंभ से ही एक समस्या रही है वह रूपों के प्रयोगों का शास्त्र है। नए-नए रूपों की

खोज और निर्माण की जितनी कोशिशें काव्यशास्त्रियों ने की हैं उतनी कोशिशें उन्होंने नई अंतर्वस्तु को खोजने में नहीं की। काव्यशास्त्र की सबसे सुंदर बात यह है कि इसके सभी स्कूल आवयविक तौर पर एक-दूसरे से जुड़े हैं। मसलन, आरंभ रस से हुआ, जो अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोति सिद्धांत तक पहुँचा। पूर्ववर्ती आलोचना से नई आलोचना अपने को अलग तो करती है, लेकिन पुराने को अंदर समेटे रहती है। नई और पुरानी आलोचना में अंतर्कियाएं चलती रहती हैं। इस तरह काव्यशास्त्र में आवयविक एकता बनाए रखते हैं।

यह आवयविक एकता बेहद जटिल है। इसमें सामाजिक यथार्थ के सत्य गुंथे हुए हैं। दिलचस्प बात यह है कि सतह पर विभिन्न आलोचना स्कूलों में जो भेद दिखते हैं वे मूलत:रूपों के प्रयोगों को लेकर हैं। लेकिन इनमें भेदों में युगीन वैचारिक अंतर्विरोध चले आए हैं। काव्यशास्त्र के रूपों के विवाद में जाने का अर्थ है भाषिक संरचनाओं में प्रवेश करना और भाषिक संरचनाओं के भेद के जरिए अर्थभेद की खोज करना। यही वजह है शब्दार्थ सबके यहां अपनी सुनिश्चित जगह बनाए रखता है। पुराने काव्यशास्त्रियों ने प्रभावशाली भाषा के प्रयोग पर खासतौर पर जोर दिया है। राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार प्रभावशाली भाषा का जन्म होता है प्रयुक्त शब्द में क्षमता भर देने से। इसी क्षमता को काव्यशास्त्रियों ने व्यंजनां कहा है। इसी क्षमता को आत्मा कहते हैं। यहां प्रभावी का अर्थ यह है कि रचनाकार की क्षमता के सामने सारे नियम नत-मस्तक रहें। रचनाकार वही है, जो विशिष्ट अर्थ की सृष्टि करे। सामान्य अर्थ की उक्ति को रचना नहीं कहते। सामान्य जब तक विशिष्ट से मंडित होकर सामने नहीं आता तब तक रचना प्रभावशाली नहीं बनती। यह शास्त्र रचना में अंतर्निहित अर्थ की विभिन्न स्कूलों के जरिए खोज तो करता है। रचना में अंतर्निहित अर्थ को उद्घाटित करता है, लेकिन भाववादी नजरिए से।

आलोचना का काम में रचना में छिपे तत्त्वों की खोज करना, साथ ही सत्य की खोज करना। रचना में जिस तरह सत्य छिपा रहता है उसी तरह झूठ भी छिपा रहता है। संस्कृत काव्यशस्त्रियों ने छिपे अर्थ को खोजा लेकिन सत्य को नहीं खोजा, वे झूठ को ही बार-बार बताते रहे। जिनको साहित्यिक रूढ़ियां कहा जाता है वे असल में आलोचना के झूठ हैं। प्रत्येक आलोचना स्कूल ने अपने तरीके से इन रूढ़ियों को निर्मित किया, ज्योंही आलोचना रूढ़ि बनने लगी, नए आलोचना स्कूल का जन्म हुआ, उसने भी नए पर जोर दिया लेकिन सत्य को स्थापित नहीं किया, फलत: वह भी एक अवधि के बाद रूढ़ि बन गया।

काव्यशास्त्रियों की आयरनी यह है कि वे अर्थ खोजते हैं, सत्य नहीं। सत्य से रहित आलोचना क्रमशः प्रासंगिकता खो देती है। संस्कृत की रचनाकार और आलोचक दोनों के साथ यह मुश्किल यह है कि वे सत्य से जुड़े सवालों को सम्बोधित ही नहीं करते। इसी तरह हर रचना में अनेक स्तर होते हैं। आलोचक अपने तरीके से इन स्तरों पर विचरण करता है, आलोचना लिखता है। इस क्रम में प्रत्येक स्तर पर छिपे अर्थ की खोज करता है। सवाल यह है छिपे को खोजते समय वह सत्य को क्यों नहीं खोजता वह काल्पनिक चीजों और काल्पनिक अर्थों की विभिन्न रूपों में व्याख्या करने पर क्यों जोर देता है, इसका एक ही उत्तर है काव्यशास्त्री और लेखक दोनों का समाज से अलगाव है। वे समाज से कटे हुए हैं। इसलिए वहाँ रचना के सुंदर प्रयोग मिलेंगे, सुंदर संरचनाएं मिलेंगी, नए-नए छंदों, अलंकारों और नई चमत्कृत करने वाली भाषा मिलेगी लेकिन सत्य को खोजने की कोई पहल दिखाई नहीं देगी। वे कल्पना में निपुण हैं, लेकिन कल्पना के साथ समाज के संबंध को लेकर अनभिज्ञ हैं। रूप और विचारधारा- संस्कृत काव्यशास्त्र को सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक परिस्थितियों को जोड़कर देखने से सतह पर लगता है कि उसकी भौतिकवादी व्याख्या हो गयी, लेकिन वस्तुतः यह व्याख्या किसी खास निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाती। इसमें रचना के रूपो का अक्षय भंडार है अभिव्यक्ति के लिए अनंत विकल्प हैं। सवाल उठता है रूपों के विकल्पों पर इतना क्यों जोर दिया गया, क्या रूप-संरचना की कोई विचारधारा होती है, इस प्रसंग में सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह है रूप का सामाजिक आधार क्या है, दिलचस्प बात है भरत से लेकर पण्डित जगन्नाथ कविराज तक रूप का आधार भाषा है। भरत ने लिखा छन्दोहीनो न शब्दोस्ति नछन्दः शब्दवर्जितम् यानी उन्होंने शब्दमात्र को छन्द माना। इस क्रम में उन्होंने छन्द और शब्द को अन्योन्याश्रित माना। भरत ने 36 काव्यलक्षण, 10 काव्यदोष, इनके अभाव में 10 काव्यगुण, 4 अलंकार आदि का विवेचन किया। प्रवृत्ति का जिक्र किया जिसे कालान्तर में रीति के नाम से विस्तार दिया। इसके अलावा रस और उसके विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार किया।

किसी भी कृति और उसकी रूप-संरचनाओं का आस्वाद पाठक सुनिश्चित सांस्कृतिक परिस्थितियों और सांस्कृतिक परंपराओं में रहकर ही लेता है, ये परंपराएं लगातार बदलती रही हैं, इनको सांस्कृतिक आदतें कहें तो समीचीन होगा। सांस्कृतिक आदतों के निर्माण की प्रक्रिया विचारधारा से बनती है, लेकिन क्रमशः विचारधारा से मुक्त हो जाती है, जिसे हिन्दी वाले संस्कार भी कहते हैं। सवाल

यह है कि आदतों और रूपों के बीच की अन्तर्क्रिया को कैसे देखें? हमने भाषा, रूप और विचारधारा पर तो विचार भी किया है, लेकिन आदतों के संदर्भ में विचार नहीं किया है। सच्चाई यह है भरत ने जिन तत्त्वों की नाट्य के संदर्भ में व्याख्या की, जिन धारणाओं का प्रतिपादन किया उन सभी ने एक तरह से रचना और आलोचना में काव्य संस्कार के रूप में जगह को बना ली। आलोचना की धारणाएं जब काव्यशास्त्र की परंपरा में आईं तो वे संस्कार के रूप में आईं, नए काव्यरूपों को भी इन्ही आदतों के फ्रेमवर्क में विकसित किया गया। इनमें सतह पर एक-दूसरे की मूल मान्यताओं को अपदस्थ करने की कोशिश दिखती है, लेकिन पुराने रूपों और अवधारणाओं को समाहित करते हुए। इससे काव्यशास्त्र में नई ऊर्जा का संचार हुआ है। काव्यशास्त्र के नए रूप और नई अवधारणाएं सामने आईं। ये वस्तुतः आलोचना के नए ऊर्जा स्रोत हैं, पुरानी अवधारणाएं जब ऊर्जारहित होने लगीं तो आलोचकों ने नए ऊर्जा स्रोत खोजे और उस क्रम में नए सिद्धांत सामने आए। इन तमाम परिवर्तनों की मुख्य विशेषता यह है रूप-तत्त्व ही मूलाधार है। रूप -तत्त्व को सजाने-संवारने में जितनी ऊर्जा खर्च की गयी वह प्रशंसनीय है और सारी समस्याओं, आलोचनात्मक जड़ता या रूढ़िगत प्रतिमानों और रूढ़िगत लक्षणों का गोमुख भी यही है। प्रच्छन्नतः संकेत है कि आलोचना शाश्वत नहीं, परिवर्तनीय है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की धुरी है रस, इसके ही आधार पर सारी धारणाएं काव्य के संदर्भ में निर्मित की गयीं। पुरानी धारणाओं पर सवाल उठाए गए, उन सवालों को खासतौर पर उठाया गया जो अनदेखे थे। नए आलोचना स्कूल सामने आए। आलोचना में परम्परा शुरू हुई। लेकिन मुख्य जोर नई अवधारणों की खोज पर था। पुरानी आलोचना के सभी पहलुओं पर निरंतर हर आलोचक ने बात की है, लेकिन उसका मुख्य लक्ष्य है नए की ओर चलो। सतह पर विभिन्न आलोचना स्कूल पुराने रूपों की आलोचना करते हैं, लेकिन उनका मूल जोर नए रूप तत्त्व की खोज पर है। सारे आलोचक अपनी एकल धारणा पर जोर देते हैं। किसी के लिए रस प्रमुख है, किसी के लिए अलंकार प्रमुख, किसी के लिए रीति, किसी के लिए वक्रोक्ति। इस क्रम में रस के बाद जो धारणाएं आई हैं वे अपने साथ किसी न किसी तरह की शब्द इमेज लेकर आईं। मसलन, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति में भाषिक इमेज महत्वपूर्ण है। इस क्रम में बड़े पैमाने पर प्रतीकों और बिम्बों की रचनाकारों ने सृष्टि की। सभी आलोचना स्कूल विस्तार से जब अपनी धारणाओं का विवेचन करते हैं तो उस समय प्रतीक-बिम्ब आदि का

सबसे ज्यादा प्रयोग करते हैं। इस क्रम में वे अपरिवर्तनीयता के नियम को चुनौती देते हैं, गैर-द्वंद्वांतमक चीजों को चुनौती देते हैं। इस तरह संस्कृत काव्यशास्त्र में रूप महज रूप के तौर पर नहीं आते, बल्कि रूपों के बहाने शाश्वत आलोचना की अवधारणा खंडित होती है।

प्रत्येक स्कूल निष्पन्न ढ़ंग से आलोचना की अवधारणाओं और उसके रूपों पर विचार करता है, लेकिन अगला आलोचक उस निष्पन्नता को ही निशाना बनाता है, फलतः आलोचना में परिवर्तन का नियम दाखिल हो जाता है। संस्कृत आलोचना में आत्मा की खोज मूलतः गैर-द्वंद्ववादी दृष्टियों का निषेध, शाश्वत आलोचना, अपरिवर्तनीय आलोचना की धारणा का निषेध है, ये 6 स्कूल बताते हैं कि आलोचना परिवर्तनीय होती, आलोचना में बहुलता अंतर्निहित है, वह शाश्वत या रूढ या जड़ नहीं होती। परिवर्तन की प्रक्रिया भी एकायामी नहीं होती बल्कि बहुआयामी होती है। आनंदवर्धन मानते हैं एक शब्द के अनेक व्यंग्य अर्थ होते हैं। उसी तरह शब्द का वाच्य अर्थ एक नहीं बल्कि अनेक होते हैं, मसलन, देह, शरीर दोनों का वाच्यार्थ एक ही नहीं है, बल्कि भिन्न- भिन्न हैं। राममूर्ति त्रिपाठी ने सही लिखा है शरीर एक सामान्य अर्थ व्यंजित करता है। जो देह, काम', तन सबका वाच्य है। यहाँ शरीर सामान्य है और देह, तन, काम आदि विशिष्ट है, बिम्ब में इसके प्रयोग से चारूता पैदा होती है। इस अर्थ में माना गया कि शब्द का वाच्य अर्थ एक ही नहीं होता बल्कि भिन्न होता है। शरीर और देह कहने को पर्यायवाची हैं, लेकिन इनमें अर्थभिन्नता भी है, इसलिए कहा गया वाच्यार्थ एक ही प्रकार के नहीं होते। अपनी विशिष्टता के कारण वाच्य का अर्थ कभी सहृद्यलाघ्य होता है और कभी नहीं। इसलिए आनंदवर्धन ने कहा योर्थः सहृद्यलाघ्यःकाव्यात्मेति व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानारव्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

संस्कृत काव्यशास्त्र का मॉडल एकल अवधारणा केन्द्रित है। लेकिन यह आलोचना में पूर्वापर संबंध मानते हुए विकास करता है। सतह पर आलोचना स्कूल में एक व्यक्ति का योगदान लगेगा लेकिन विस्तार में जाकर अध्ययन करेंगे तो पता चलेगा उसमें एकाधिक आलोचकों की धारणाओं का उपयोग किया गया है, इस नजरिए से देखेंगे तो संस्कृत काव्यशास्त्र एकल नहीं सामूहिक रूप में निर्मित आलोचना स्कूल है। काव्यशास्त्रियों ने जो मॉडल चुने उनको देखें तो परिवर्तनों के नए क्षित्ज नजर आएंगे। मसलन् अलंकारशास्त्री भामह ने काव्यालंकार में सबसे क्रांतिकारी अवधारणा दी, उन्होंने कहा शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, अर्थात् शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से एक ही काव्य के घटक होते हैं। भामह ने दूसरी

महत्वपूर्ण क्रांतिकारी धारणा यह दी कि सभी काव्यतत्त्व अलंकार हैं। इसक्रम में उन्होंने उक्ति की वक्रता से लेकर, रीति, गुण, रस आदि सबको अलंकार में समायोजित कर लिया। यह समायोजन की कला असल में आलोचना को परंपरा से वर्तमान को जोड़ने की कला है। आलोचना कभी भी पूर्ववर्ती आलोचना के योगदान की अनदेखी करके अपना विकास नहीं करती। यही वह क्रांतिकारी समझ है जिसको सबसे पहले भामह ने प्रतिपादित किया। उसके बाद से समूची आलोचना आजतक इस नजरिए का पालन कर रही है।

युग बदल गए, व्यवस्थाएं बदल गयीं, लेकिन आलोचना का परंपरा के साथ जो रिश्ता भामह ने तय किया वह अभी भी जारी है। एक अन्य चीज जो भामह ने की वह है सामान्य बोलचाल की भाषा से काव्यभाषा को अलग किया। सामान्य बोलचाल की भाषा से काव्यभाषा अलग होती है वक्रता के आधार पर। अभिव्यक्ति के बॉकपन को चारूता कहा गया, उसे रसवत् अलंकार की सज्ञा दी गयी। भाषा में साहित्य या काव्य के लिए वही मूल्यवान भाषा है, जो लोकातिक्रान्त उक्ति है, जिसे काव्यशास्त्री अतिशयोक्ति कहते हैं। यही अतिशयोक्ति अलंकार का मूलाधार है। कालान्तर में इसे दण्डी ने काव्यशोभा के नाम से व्याख्यायित किया। भामह ने काव्यालंकार लिखा तो रीति के आचार्य वामन ने काव्यालंकार-सूत्र नामक ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ भामह के नजरिए को और ज्यादा विस्तार के साथ पेश करता है। इसमें अलंकार और अलंकार्य में भेद किया गया है। वामन ने अपने नजरिए का भामह के नजरिए के साथ संबंध बनाते हुए बड़े कौशल के साथ आलोचना का विकास किया। वे अलंकार को ही सर्वस्व नहीं मानते। वे पहले आचार्य है, जो गुण या संरचना को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका मानना है काव्य में सौंदर्य के जनक तत्त्व गुण हैं क्योंकि इनके बिना काव्य-शोभा असंभव है। वे अलंकारों के बिना भी शोभा-जनक होते हैं जबकि अलंकार गुणों के बिना नहीं हो सकते। लिखा है काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। ये खलु शब्दारर्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः।

वामन ने भरत प्रतिपादित दस गुणों को ही अपने नजरिए का मूलाधार बनाया और उनको बीस गुणों में वर्गीकृत करके दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण नाम दे दिया। यहां पर प्रतिपादन शैली या चीजें कैसे पेश की जाएं इस पर मुख्य जोर है। ये ही गुण वामन के यहाँ रीति का मूलाधार हैं। यह संरचना की अवधारणा का प्रयोग करने वाला सबसे पहला सैद्धांतिक स्कूल है। वामन ने लिखा विशिष्ट पदरचना ही रीति है। यहां वस्तुतः गुणों के समवाय का नाम रीति है। वामन के

पास कई मायनों में भरत से विकसित नजरिया था, यह चीज उनके विवेकपूर्ण वर्गीकरण में नजर आती है। मसलन, भरत के यहाँ दोषाभाव को सर्वप्रथम गुण माना गया है। जबकि वामन ने एकदम उलट जाकर कहा गुणाभाव दोष है। वामन पहले आलोचक हैं, जो संतुलन से काम लेते हैं और रेखांकित करते हैं, गुण रहते हुए भी दोष हो सकते हैं। दोष का अभाव एकदम दुर्लभ चीज है। इसी क्रम में वामन ने काव्य के स्वरूप पर लिखा, काव्यशब्दौयं गुणालंकार- संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोत्न गृह्यते। अर्थात् गुणालंकार-संपन्न शब्दार्थ ही काव्य है, लक्षणा से केवल शब्दार्थसंघात को काव्य कहा जाता है।

सवाल उठता है वामन के यहां काव्य क्या है? राममूर्ति त्रिापाठी ने लिखा लाक्षणिक रूप से शब्दार्थ-समूह काव्य है, पर मुख्यार्थ में काव्य किसे कहा जाय, अलंकार-रहित काव्य को मान्य करके वामन परिभाषा में अलंकार का ग्रहण क्यों करते हैं, गुण भी स्वरूप निर्धारक तत्त्व नहीं, गुणहीन भी मनुष्य हो सकता है। वामन गुणों को ही काव्य का अंगसंघात मानते हैं। तब कहा जायगा कि अंगों (गुणों) की यथोचित योजना होनी चाहिए। इस पर वामन का विचार क्षीण है। इसके अलावा त्रिपाठीजी ने सही रेखांकित किया है कि वामन कवि-प्रयत्न के शैली पक्ष पर बल देकर विचार करते हैं। रस पर खास जोर नहीं देते। वामन ने रीति के मूलाधार में गुणों को महत्व न देकर रीतियों को महत्व दिया और यह उनके नजरिए का सबसे बड़ा अंतर्विरोध है। सवाल यह है जब वे गुणों को काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं तो उनको काव्यात्मा के रूप में गुणों की चर्चा करने की बजाय रीति को काव्यात्मा क्यों कहते हैं।

सवाल यह है काव्यात्मा किसे कहते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्री इस सवाल पर विचार नहीं करते की काव्य का सर्वोत्तम तत्त्व क्या है, बल्कि वे इस सवाल पर विचार करते हैं काव्य-स्वरूप विवेचन में किसे प्राथमिकता दी जाय, आत्मा का यहां अलंकारिक तौर पर प्रयोग किया गया है। यह आत्मा काव्यशास्त्रियों के यहां एक जैसी नहीं है। काव्य-स्वरूप निर्धारण में उनकी प्राथमिकताएं एक जैसी नहीं हैं, बल्कि वे एक से अधिक चीजों को प्राथमिकता देते हैं। मसलन, आनन्दवर्धन आरंभ में ध्वनि (व्यंग्य) को काव्यात्मा मानते हैं, लेकिन बाद में अंग-संघटन को प्राथमिक मानते हुए अंग-संघटन की तुलना लावण्य से करते हैं। जबकि लावण्य तो गुण है, इसलिए काव्यात्मा तो गुण को मानना चाहिए। काव्यात्मा की समूची बहस एक ही चीज रेखांकित करती है कि काव्यात्मा में

एकाधिक तत्त्व होते हैं, यानी काव्य-स्वरूप का विवेचन करते हुए अंतर्विषयवर्ती पद्धति से देखने की जरूरत है।

जबकि वामन ने गुण और अलंकार में अन्तर किया। उन्होंने अलंकार को बहिर्भूत तत्त्व माना। जबकि गुण को कृति में विशिष्टता अदा करने वाला तत्त्व माना। शब्दकृत और अर्थकृत विशिष्टता पैदा करने में गुण की केन्द्रीय भूमिका होती है। इसी के आधार पर लेखक विशिष्ट पद रचना करता है और यही रीतियों का आधार है। इसलिए रीतियों पर नजर रखो। इसी तरह आनंदवर्धन ने ध्वनिमत में रीति का विरोध नहीं किया। बल्कि रीतियाँ सभी काव्शास्त्रियों के यहां मान्य हैं। इसी तरह वामन भी रसविरोधी आचार्य नहीं हैं वे रस का विस्तृत विवेचन कान्ति गुण में करते हैं। उनके अनुसार सरस रीतियाँ दो ही हैं-वैदर्भी और गौडी। रसेतर वस्तुओं के वर्णन के लिए उन्होंने पांचाली रीति को प्रमुखता दी है। इसी प्रकार ध्वनिकार ने तीन सन्दर्भों में काव्यात्मा का प्रयोग किया है। लिखा है-

काव्यस्यात्मा ध्वनिः। यानी ध्वनि ही काव्य सार है। जो काव्य को काव्येतर से पृथक करता है।

काव्यस्यात्मा स एवार्खस्तथा चादिकवेःपुरा।
क्रौंचद्वंद्वं-वियोगोत्थःशोकःश्लोकत्वमागतः।

यहां पर रस को ही काव्यात्मा माना है। अभिनवगुप्त ने इस पर लिखा वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ रस-परिणत होकर ही चमत्कार लाती हैं, फिर भी वाच्य अर्थ से विशिष्टता के कारण उन्हें जीवित माना गया है। जीवित यानी आत्मा अर्थात् श्रेष्ठ माना गया है।

अर्थःसहृदयलाघ्यःकाव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्य-प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुमौ स्मृतौ॥

उपरोक्त की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने साफ लिखा कि वाच्य भाग काव्यात्मा नहीं है। प्रतीयमान अर्थ ही काव्यात्मा है। वे मानते हैं सहृदय का चरम प्राप्य तो प्रतीयमान अर्थ ही है। आचार्य कुन्तक ने आत्मा के स्थान पर जीवित का प्रयोग किया, यह उनके ग्रंथ के नाम वक्रोक्तिजीवितम् से ही स्पष्ट है। कुन्तक ने जीवित का तीन संदर्भों में इस्तेमाल किया है। वे ग्रंथ के आरंभ में ही घोषित कर देते हैं कि अलंकार ही काव्य-स्वरूप-निर्धारक हैं। इसको वे वक्रता के परिप्रेक्ष्य से व्याख्यायित करते हैं। इसमें वे कविकौशल को उभारते हैं। कवि कौशल के कारण ही रस, स्वभाव और अलंकार इन तीनों में सामंजस्य स्थापित

करने में मदद मिलती है। जबकि क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी होकर भी औचित्य को काव्यजीवित मानते हैं।

इस समूचे विमर्श में मुख्य चीज है बोलचाल की भाषा और प्रस्तुतियों से काव्यभाषा और उसकी प्रस्तुतियों को अलग करना। यही वह बिंदु है जहां से समूचा काव्यशास्त्र विकसित हुआ। इस क्रम में कविता क्या है और उसको कैसे पेश किया जाय, किन उपकरणों के जरिए रचा जाय आदि सवालों पर मूलतः विचार किया गया। काव्य प्रस्तुति के एकाधिक रूपों का निर्माण किया गया, रेखांकित किया गया कि दैनंदिन बोलचाल की भाषा से काव्यभाषा को भिन्न होना चाहिए, उसको व्याकरण की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए।

जबकि बोलचाल की भाषा में हम इस पहलू का ख्याल नहीं रखते। बोलचाल की भाषा में आमतौर पर भाषा और विवेकवाद के अन्तःसंबंध का ख्याल रखा जाता है, सिर्फ असामान्य स्थितियों में भाषा और विवेकवाद के संबंध से विचलन नजर आता है, लेकिन सामान्य स्थितियों में यह संबंध बनाए रखते हैं। लेकिन काव्यभाषा का जो मॉडल काव्यशास्त्रियों ने विकसित किया उसमें रूढ़ियों, रूढ़िगत प्रतिमानों आदि के प्रयोग की जो परंपरा आरंभ हुई उसने भाषा और अविवेकवाद के अन्तःसंबंध को बड़े पैमाने पर विकसित किया। यही वह प्रस्थान बिंदु है जहां से काव्यभाषा और काव्यशास्त्र का आम लेखकों और पाठकों से अलगाव आरंभ होता है। क्रमशःकाव्यशास्त्र के विकास के साथ संस्कृत का जीवन से अलगाव बढ़ा, संस्क-त लेखकों का अलगाव गहरा हुआ, फलतः जीवन की समस्याओं से कविता दूर होती चली गयी।

काव्यभाषा में प्रयुक्त रूढ़िगत प्रतिमानों और रूढ़िगत भाषिक प्रयोगों का गहरा संबंध लेखक के दिमाग की बनावट से भी है। कवियों ने कभी जीवन के ज्वलंत प्रश्नों को कविता में नहीं उठाया, ये लोग काव्यरूपों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी सृष्टि करने में इस कदर मशगूल रहे और यह भूल गए कि जो रच रहे हैं उसका यथार्थ से संबंध टूट चुका है। फलतः काव्यभाषा में काव्य-रूढ़ियों का ढ़ेर लग गया। इसका गंभीर परिणाम यह निकला कि भाषा और सामाजिक चेतना में अलगाव बढ़ा। काव्यभाषा से संवेदनाएं और भावुकता गायब होती चली गयी, सब कुछ परिष्कृत सजी-संवरी भाषा में आने लगा। भाषा के अमूर्त्तन में कवि खो गया। कवियों के यहां काव्यभाषा के वे ही रूप प्रचलन में रह गए जो उनके ज्ञान-भंडार का हिस्सा थे। यथार्थजीवन की नई भाषा और नए शब्दों का काव्यभाषा में न्यूनतम प्रवेश हुआ। यह एक तरह का काव्यभाषा में व्याप्त

अविवेकवाद है इसका समाज में प्रचलित अंधविश्वास, पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धात से वैचारिक तौर पर गहरा संबंध है, इस पहलू की ओर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्यकालीन बोध का स्वरूप किताब में ध्यान खींचा है। कहने का आशय यह है संस्कृत की काव्यभाषा के रूप में अपनी विचारधारात्मक परिणतियां भी हैं जिनकी आलोचकों ने अनदेखी की है। काव्यभाषा के रूप में इन लोगों ने ऐसी भाषा रची है, जो रहस्यात्मक, रूढ़िबद्ध और अविवेकवादी है।

संस्कृत की काव्य भाषा में भाषा और जीवन का अंतराल इस हद तक फैला हुआ है कि काव्यरूढ़ियों और यथार्थरूपों के बीच कोई संगति नहीं है। यानी लेखक जिस भाषा में लिख रहा है और जिस भाषा में जी रहा है उसके बीच में महा-अंतराल है। मसलन, किसी लेखक ने लिख दिया कि चकवा-चकवी रात में एक-दूसरे से नहीं मिलते तो हमने मान लिया, कभी उसने यथार्थ में यह जानने की कोशिश ही नहीं की क्या वास्तव में ऐसा होता है ! काव्यभाषा के रूप में यांत्रिक विचारधारारहित भाषा का पीढ़ी-दर-पीढ़ी उत्पादन होता रहा, कभी इस पर रोककर विचार नहीं किया गया, यही वजह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र काव्यभाषा और विवेकवाद के अन्तस्संबंध से जुड़े सवालों पर दार्शनिक और व्यवहारिक तौर पर विचार नहीं करता। वहां सिर्फ काव्य प्रस्तुति पर जोर है, प्रस्तुति की प्राथमिकताओं पर बहस है। वे यह जानने की कोशिश नहीं करते कि आम जनता के बीच में या सहृदय के बीच में इस तरह की भाषिक प्रस्तुतियों का क्या असर हो रहा है। वह सहृदय के काव्यभाषा से बढ़ रहे अलगाव को नोटिस ही नहीं लेते। इसके चलते काव्यभाषा में लगातार बेहतरीन प्रयोगों की बाढ़ आ गयी लेकिन इन प्रयोगों का आम जनता और सहृदय के साथ अपरिचय रहा। इस प्रक्रिया में ऐसी काव्यभाषा ने जन्म लिया जिसे अपरिचित भाषा कहना समीचीन होगा।

कला या काव्य का मूल लक्ष्य है सचेत अनुभवों को बरकरार रखना, उनको पुख्ता बनाना, लेकिन काव्यभाषा के इस तरह के रूढ़िगत, परंपरागत प्रयोगों ने जीवनानुभवों से भाषा को पूरी तरह काट दिया। सैंकड़ों साल हम इस तरह के प्रयोगों को संस्कृतकाव्य में देखते हैं। नए-नए अलंकार, छंद और रूपकों की सृष्टि ने यांत्रिक भाषा को समृद्ध किया, यह ऐसी भाषा है जिसमें सम-सामयिक युग नदारद है। सम-सामयिक परिस्थितियां नदारद हैं। इसने संस्कृत के लेखकों की आदत में शामिल भाषा के रूपों और प्रयोगों का उत्पादन और पुनःउत्पादन बहुत किया। संस्कृत काव्यशास्त्रियों की आलोचना का मूल ढांचा कुछ इस प्रकार है- मसलन, वे पहले चिर-परिचित अवधारणाओं को उठाते हैं फिर उससे भिन्न

प्रस्तुति रूपों को पेश करते हैं। इस तरह वे पहले वाली धारणाओं के प्रति अपनी सचेतनता प्रकट करते हैं, लेकिन नए रूपों के जरिए अवधारणात्मक भेद पैदा करते हैं। इस क्रम में काव्य प्रस्तुति के अनेक विकल्प पेश करते हैं। इस क्रम में वे काव्यशास्त्र के नए सिद्धांत को निर्मित करते हैं। आलोचनात्मक हायरार्की को निर्मित करते हैं। आलोचना में हायरार्की सबसे खराब तत्त्व है। हायरार्की का प्रवेश कुछ तरह होता है, मसलन्, प्रचलित अवधारणा को पेश करते हुए अप्रासंगिक बनाओ और उसके स्थान पर नई अवधारणा पेश करो, पुरानी अवधारणा को अपनी धारणा के अंग के रूप में पेश करो और नई धारणा को प्राथमिकता से पेश करो।

आलोचना में इस क्रम में नई धारणा प्राथमिक और पुरानी धारणा गौण होती चली गयी, यही वह समस्या है जिसने आलोचना में भेद की संस्कृति को जन्म दिया। इस तरह की प्रस्तुति का प्रधान लक्ष्य था प्रस्तुत विषय को चमत्कृत भाव से नई अवधारणा में पेश करना। नई अवधारणा पेश करते समय आलोचक पुरानी अवधारणा का जिक्र करना नहीं भूलता, इसके जरिए वह आलोचना में परंपरा क्रम को बनाए रखता है। यह एक तरह से आलोचना परंपरा को पेश करने का यह भाववादी ढ़ंग है क्योंकि पुरानी आलोचना का विवेचन करते हुए अचानक वह नई अवधारणा पेश करता है, नई अवधारणा में उसका हठात् स्थानान्तरण और पुरानी अवधारणा के वर्चस्व से अपने को मुक्त करना वस्तुतः अपनी परंपरा से पृथक करना है। यह नया रचने का मनोविज्ञान भी है। प्रस्तुति के नए रूपों की निरंतर खोज वस्तुतः नए को तो पेश करती है साथ ही सामंजस्य के ऊपर बल देती है। जब भी नई आलोचना जन्म लेती है तो नए सिरे से सामंजस्य बिठाने की कोशिश करती है, समूचे साहित्यिक ढांचे का पुनर्मूल्यांकन करते हुए सामंजस्य बिठाने की कोशिश करती है। इस क्रम में नए वर्गीकरण, नए किस्म के रूपगत प्रभुत्व और नए काल विभाजन को भी जन्म देती है। यहां परंपरा का विकास वंशानुगत भाव से होता है। वे जिस नए की बात करते हैं वह पहले से परंपरा में उपलब्ध होता है, चाहे वो गैर-महत्व का हो। यही वजह है आलोचना परंपरा में वंश की अवधारणा को वे बचाए रखते हैं। यही वजह है हमारे यहां वही नया मान्य है, जो पहले परंपरा में हो, चाहे उपेक्षित हो। ऐसा नया जल्दी स्वीकार्य नहीं होता जो परंपरा के बाहर से आया हो। इसने आलोचना में ठहराव को पैदा किया, आलोचना में नया तो आया लेकिन उसमें बदलाव की क्षमता नहीं थी। यही वजह है आलोचना

में नए तत्त्व दाखिल तो होते हैं, लेकिन देर से, तब तक वे अप्रासंगिक हो चुके होते हैं।

काव्यशास्त्र पर विचार करते हुए हमें तयशुदा निष्कर्ष निकाले वाली पद्धति से बचना चाहिए। आलोचना का काम पहले से लिखे हुए को बताभर देना नहीं है, आलोचना की समस्या यह है कि उपलब्ध काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं का पुनर्मूल्यांकन करे, उसके अंदर की दरारों या अंतरालों का उद्घाटन करे। आलोचना को पुराने मानकों के आधार पर न देखे। आलोचना पुरानी हो लेकिन उसके परखने के पैमाने आधुनिक होने चाहिए। पुरानी आलोचना यदि नए मानकों पर खरी उतरती है तो उसकी धारणाओं का नई अंतर्वस्तु के साथ इस्तेमाल करना चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि प्रत्येक धारणा को नए सिरे से आलोचना की कसौटी पर कसा जाय। पुरानी और नई आलोचना में कहां संवाद हो सकता है उन बिंदुओं को निर्धारित किया जाय। हमें इस सवाल पर भी सोचना चाहिए कि साहित्यालोचकों ने काव्यशास्त्र का उपयोग क्यों बंद कर दिया, जबकि यूरोप में आज भी कोई भी आलोचनात्मक विमर्श अरस्तू, प्लेटो आदि के बिना नहीं होता। लेकिन हिन्दी में त्रासदी है कि काव्यशास्त्र का अंत घोषित कर दिया गया। इसे परंपरा के साथ असंतुलन कहें तो बेहतर होगा। संस्कृत काव्यशास्त्र में पुनरावृत्ति बहुत है, उससे बचा जाना। एक अन्य समस्या यह है कि अधिकांश आलोचकों के केन्द्र में काव्य है, अन्य विधाओं में इस आलोचना का कैसे प्रयोग होगा इस पर विचार नहीं हुआ। महाकाव्य, प्रबन्ध काव्य आदि को केन्द्र में रखकर आलोचना का समूचा ढांचा बनाया गया। नाटक, संस्कृत गद्य आदि पर विचार नहीं किया गया। दृश्य माध्यम को आधार बनाकर भरत ने नाट्यशास्त्र रचा लेकिन काव्यशास्त्रियों ने बिना कारण बताए दृश्य के नियमों को श्रव्य पर लागू कर दिया।

संस्कृत महाकाव्य

संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य (एपिक) का प्रथम सूत्रबद्ध लक्षण आचार्य भामह ने प्रस्तुत किया है और परवर्ती आचार्यों में दंडी, रुद्रट तथा विश्वनाथ ने अपने-अपने ढंग से इस महाकाव्य (एपिक)सूत्रबद्ध के लक्षण का विस्तार किया है। आचार्य विश्वनाथ का लक्षण निरूपण इस परंपरा में अंतिम होने के कारण सभी पूर्ववर्ती मतों के सारसंकलन के रूप में उपलब्ध है। महाकाव्य में भारत को भारतवर्ष अथवा भरत का देश कहा गया है तथा भारत निवासियों को भारती अथवा भरत की संतान कहा गया है।

संस्कृत महाकाव्यों की उत्पत्ति एवं विकास

संस्कृत महाकाव्य के उद्भव और विकास का निरूपण अधेलिखित है–

महाकाव्य के विकास का इतिहास हम दो रूपों में करते हैं। (1) रूपगत विकास, (2) शैलीगत विकास।

रूपगत विकास के अन्तर्गत सबसे पहले वैदिक काल आता है जिनमें आख्यान, देवस्तुति, भावप्रधनता इत्यादि आते हैं। वीरमहाकाव्य के अन्तर्गत रामायण, महाभारत एवं आाख्यान तत्त्वों की प्रधनता आती है। लौकिक महाकाव्य में कालिदास एवं परवर्ती काव्यकारों ने भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की उदात्तता पर बल दिया है।

महाकाव्य के शैलीगत विकास में प्रसादात्मक शैली में रामायण, महाभारत, कालिदास, अश्वघोष आदि के काव्यों में प्राप्त होती है। अलंकारात्मक शैली, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि के काव्यों में प्राप्त होती है। श्लेषात्मक शैली, द्वयर्थक काव्यों में प्राप्त होती है। द्वयर्थक काव्य ध्नंजयकृत– द्विसन्धनकाव्य, कविराजसूरिकृत –राघवपाण्डवीय, राघवचूड़ामणिदीक्षितकृत–राघवायादव– पाण्डवीय।

महाकाव्यों का उद्भव ऋग्वेद के आख्यान सूक्तों– इन्द्र, वरुण, विष्णु और ऊषा आदि के स्तुतिमंत्रों तथा नराशंसी गाथाओं से हुआ है। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में इन अख्यान आदि का विस्तृत रूप मिलता है। यही स्वरूप आगे चलकर महाकाव्य के रूप में बदल गया। क्रौंचवध से दु:खी मनवाले महाकवि वाल्मीकि के वाणी से निकला व्याध–शाप वाल्मीकिकृत रामायण के रूप में आदि काव्य के गौरव को प्राप्त कर लिया तथा इसके प्रणेता वाल्मीकि को आदिकवि का गौरव प्राप्त हुआ। वाल्मीकिकृत रामायण तथा रामायण के बाद वेदव्यासकृत महाभारत भी परवर्ती कवियों का उपजीव्य काव्य बन गये।

भारतीय परम्परा वेद को ही काव्य, शास्त्र आदि का उत्पत्तिस्थल मानती रही है। वैदिक मनीषी की सर्वाधिक मनोहर कल्पनायें ऋग्वेद के उषस् सूक्तों में समस्त काव्यात्मक उन्मेष के साथ निकली हुई है। देवस्तुति के अतिरिक्त नाराशंसियों में भी काव्यात्मक रूप झलकता है। तत्कालीन उदार राजाओं की प्रशंसा में नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तियाँ नाराशंसी कहलाती है। ऐतरेयब्राह्मण की सप्तम पंचिका में शुन:शेप आख्यान एवं अष्टम पंचिका में 'ऐन्दमहाभिषेक'के अनेक अंश सुन्दर काव्य की छटा बखिरते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में काव्यतत्त्वों का अस्तित्त्व तो दृष्टिगोचर होता है, किन्तु महाकाव्य शैली का पूर्ण

परिपाक कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। संस्कृत महाकाव्य धरा की मूल उद्‌गम स्थली आदिकाव्य रामायण ही है, जिसमें महाकाव्य की सभी विशेषताओं का दर्शन हो जाता है। संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की विकास-परम्परा में संस्कृत व्याकरण के 'मुनित्रय' - पाणिनि, वररुचि तथा पतंजलि का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। आचार्य रुद्रट द्वारा रचित 'काव्यालंकार सूत्र' के टीकाकार नेमिसाधु ने पाणिनि द्वारा रचित महाकाव्य 'जाम्बवतीजय' या 'पातालविजय' का उल्लेख किया है। पतंजलि के महाभाष्य (ईस्वी पूर्व द्वितीय शती) में काव्यगुणों से सम्पन्न पद्य उपलब्ध होते हैं। इन सब प्रमाणों के आधर पर महाकाव्य का उदय ईस्वी पूर्व की अष्टम शती में ही पाणिनि द्वारा हो चुका था। सूक्तिग्रन्थों में राजशेखर ने पाणिनि को 'व्याकरण' तथा 'जाम्बवतीजय' दोनों का रचयिता माना है-

नमःपाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह। आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम।

वररुचि के नाम से भी अनेक श्लोक विभिन्न सुभाषित संग्रहों में प्राप्त होते हैं। पतंजलि ने वररुचि के बनाये गये किसी महाकाव्य (वाररुचं काव्यं) का उल्लेख महाभारत में किया है- यथार्थता कथं नाम्नि या भूद वररुचेरिह। व्यध्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः वररुचि-प्रणीत महाकाव्य का नाम 'कण्ठाभरण' है। वररुचि ने पाणिनि का अनुकरण 'वार्तिक' लिखकर ही नहीं किया प्रत्युत काव्यरचना से उसकी पूर्ति की। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में दृष्टांत के रूप में बहुत से श्लोकों या श्लोकखण्डों को उद्धृत किया जिनके अनुशीलन से संस्कृत-काव्यधरा की प्राचीनता सिद्ध होती है। काव्य अपने सुन्दर निर्माण तथा रचना के निमित्त शान्त वातावरण, आर्थिक समृद्धि तथा सामाजिक शान्ति की जितनी अपेक्षा रखता है उतनी ही वह किसी गुणग्राही आश्रयदाता की प्रेरणा की भी। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में वह युग शकों के भयंकर आक्रमणों से भारतीय जनता, धर्म तथा संस्कृति के रक्षक मालव संवत के ऐतिहासिक संस्थापक शकारि मालवगणाध्यक्ष विक्रमादित्य का है। इसी युग में भारतीय संस्कृति के उपासक कालिदास का काव्याकाश में उदय होता है। कालिदास को वस्तुतः प्रौढ़, परिष्कृत, प्रांजल एवं मनोज्ञ काव्यशैली का प्रवर्तक कहा जा सकता है। कालिदासजी ने जो काव्यादर्श उपस्थित किया वह परकालीन कवियों एवं लेखकों के लिये अनुकरणीय हुए।

संस्कृत महाकाव्य को तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है-

(1) कालिदास के पहले का समय जिसमें कथानक की प्रधानता रही। रामायण और महाभारत इस समय के आदर्श काव्य हैं।

(2) कालिदास का समय जिसमें आडम्बरों से रहित, सहज एवं सरल ढंग से भाव तथा कला का सुन्दर समन्वय स्थापित करके काव्य की धरा प्रवाहित हुई। जैसे–'रघुवंशम्' और 'कुमारसंभवम्' आदि।

(3) कालिदास के बाद का समय जिसमें काव्यलेखन भाषा और भाव की दृष्टि से कठिन होता हुआ दिखाई पड़ता है जिसकी परम्परा भारवि से प्रारम्भ होकर 'श्रीहर्ष' की रचना तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है और एक वैदग्ध तथा पाण्डित्यपूर्ण परम्परा का निर्माण होता है।

विद्वानों ने कालिदास के पूर्ववर्ती कवि व्यास और वाल्मीकि को ऋषिकोटि में माना है। इनकी रचनाओं में सरलता और स्वाभाविकता का पुट है। संस्कृत साहित्याकाश में महाकवि 'भारवि' का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा क्योंकि संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में समय और कवित्व दोनों दृष्टियों से कालिदास के स्त्राद भारवि का प्रमुख स्थान है। इनका एक मात्र कालजयी महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' है, जो अपनी अर्थपूर्ण उक्तियों के लिए विद्वान्मण्डली में लोकप्रिय हो गया। इसके स्त्राद उसी स्तर का महत्त्वपूर्ण महाकाव्य माघ का 'शिशुपालवद्धम्' है। संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में कालक्रम के अनुसार सबसे अन्तिम और महत्त्वपूर्ण काव्य बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा गया महाकवि श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरितम्' है। इन्होंने अपने महाकाव्य को तत्कालीन समाज में प्रचलित परम्परा के अनुरूप ही आगे बढ़ाया और उस शैली के विकास को चरम तक पहुँचा दिया।

संक्षेप में महाकाव्य के विकास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आरम्भिक युग में नैसर्गिकता का ही काव्य में मूल्य था, वही गुण आदर की दृष्टि से देखा जाता था। कालान्तर में कवियों ने अपने काव्य में अक्षराडम्बर तथा अंलकारविन्यास की ओर दृष्टिपात किया और उन्हें ही काव्य का जीवन मानने लगे।

3

काव्य साहित्य का स्वरूप

हिंदी साहित्य की विकास यात्रा में गद्य एवं पद्य की विविध विधात्मक धाराओं में प्रत्येक काल अपनी विशेषताओं के साथ अपने समृद्ध कलेवर एवं अन्यान्य हस्ताक्षरों के साथ न केवल साहित्य समृद्ध करता है अपितु हर एक काल के साहित्य अध्ययन से सरलतापूर्वक युगीन दृष्टि भी प्राप्त की जा सकती है।

हिंदी काव्य में प्राचीन भक्तिकाल की कविताओं में कृष्ण भक्ति धारा की महत्ता अपना अलग स्थान रखती है। विद्यापति ने चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दी में राधाकृष्ण प्रेम की बेहद सरल, सरस, कोमल संकल्पना कर न केवल बिहार, बंगाल अपितु सम्पूर्ण हिंदी क्षेत्र में असाधारण लोकप्रियता प्राप्त की। विद्यापति की कविताओं की व्याख्यात्मक एवं आलोचनात्मक विवेचना इस विषय का प्रथम सोपान है।

हिंदी काव्य इतिहास में रीतिकाल एक और महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस साहित्य के रचनाकाल की सम्पूर्ण अवधि में देश में भी कई उतार-चढ़ाव आये। तत्कालीन विशेष के सामाजिकों की अभिरूचि, उसकी छाप भी इस काल के साहित्य पर स्पष्ट दिखती है। इसी परिप्रेक्ष्य में रीतिमुक्त काव्यधारा के विकास में घनानंद प्रमुख कवि हैं।

आधुनिक कविता में 'छायावाद' काल वस्तुतः देश के लिए अपनी पहचान, अपनी अस्मिता की खोज का युग रहा है। सामाजिक, राजनैतिक इतिहास की पृष्ठभूमि पर इस काल के काव्य एवं कवियों का अध्ययन मूलतः भारतीय जीवन के विकास के अत्यंत महत्वपूर्ण पड़ाव के प्रति समझ पैदा करने में

सहायक सिद्ध होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में महाप्राण, क्रांतिकारी कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सुमित्र नंदन पंत आदि कवियों की विविध भाव बोध से सम्पृक्त कविताओं का अध्ययन अत्यावश्यक है। मध्यवर्गीय समाज के सत्य से जुड़कर छायावादोन्तर काल में, साधन के रूप में कविता के क्षेत्र में किये गये प्रयोगों के लिए 'अज्ञेय' की कविताओं का अध्ययन भी आवश्यक है।

यह विषय हिंदी भाषा एवं साहित्य के समृद्ध लेखन पर विहंगम दृष्टि डाल कर साहित्यिक अभिरूचि का परिष्कार कर सकेगा।

महाकाव्य

राष्ट्रीय एकता प्रत्येक देश के लिए महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीय एकता की आधारशिला है सांस्कृतिक एकता और सांस्कृतिक एकता का सबसे प्रबल माध्यम साहित्य की परिधि के अन्तर्गत महाकाव्यों का विशेष महत्व है, जिनके वृहत् कलेवर में राष्ट्रीय एकता को प्रभावी रीति से प्रतिफल करने का पूर्ण अवसर रहता है। भारतीय महाकाव्य का आयोजन इसी से प्रेरित होकर किया गया है। इसमें तीन प्राचीन भाषाओं – संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अंग्रेजी को मिलाकर तेरह आधुनिक भाषाओं के 26 प्रमुख महाकाव्यों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। काव्य-वस्तु की दृष्टि से महाकाव्य पाँच प्रकार के है –

1. रामायण महाकाव्य,
2. महाभारत महाकाव्य,
3. चरितकाव्य,
4. रम्याख्यान और
5. दार्शनिक या प्रतीकात्मक महाकाव्य।

यह कार्य विभिन्न भाषाओं के अधिकारी विद्वानों द्वारा संपन्न हुआ है।

भारत में रामायण और महाभारत अद्यतन महाकाव्यों के उद्‌गम और प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। परवर्ती महाकाव्यों की रचना सार्वजनिक वाचक के लिए नहीं, वरन् कलाकृति के रूप में हुई है। इसलिए इन्हें 'कलात्मक महाकाव्य' की संज्ञा देना उपयुक्त होगा। इस वर्ग के महाकाव्यों की भारत में एक सुदीर्घ परंपरा है – जो 'कुमारसंभव' 'रघुवंश' आदि संस्कृत महाकाव्यों से आरंभ होकर आधुनिक भाषाओं में 'कामायनी' तथा 'श्रीरामायण दर्शनम्' आदि तक निरंतर प्रवाहमान है। ललित काव्य की एक विधा का रूप धारण कर महाकाव्य 'साहित्यशास्त्र' का

विषय बन गया और आचार्यों ने साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति उसे भी लक्षणवद्ध कर दिया। महाकाव्य संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य का प्रथम सूत्रबद्ध लक्षण आचार्य भामह ने प्रस्तुत किया है और परवर्ती आचार्यों में दंडी, रुद्रट तथा विश्वनाथ ने अपने अपने ढंग से इस लक्षण का विस्तार किया है। आचार्य विश्वनाथ का लक्षणनिरूपण इस परंपरा में अंतिम होने के कारण सभी पूर्ववर्ती मतों के सारसंकलन के रूप में उपलब्ध है।

महाकाव्य की विशेषताएँ

महाकाव्य की विशेषताएँ सामान्यत: इस प्रकार हैं-

'महाकाव्य' पद में उपयुक्त 'महा' विशेषण एक ओर उसके महान् कलेवर अर्थात् विपुल-व्यापक आकार और दूसरी ओर उसकी महान् विषय-वस्तु अर्थात् प्रतिपाद्य विषय की गौरव-गरिमा का समान रूप से द्योतन करता है।

आकार की व्यापकता का अर्थ है कि उनमें जीवन का सर्वांग-चित्रण रहता है। प्रभावशाली महापुरुष का जीवन होने के कारण उसका विस्तार अनायास ही संपूर्ण देशकाल तक हो जाता है। अत: महाकाव्य की कथा-परिधि में जीवन के समस्त सामाजिक, राजनीतक पक्ष एवं आयाम और उनके परिवेश रूप में विभिन्न दृश्यों और रूपों का समावेश रहता है। ये सभी वर्णन साधारण जीवन की क्षुद्रताओं से मुक्त एक विशेष स्तर पर अवस्थित रहते हैं।

महाकाव्य की कथावस्तु एक महान् उद्देश्य से परिचालित होती है। अनेक संघर्षों से गुजरती हुई वह अंतत: महत्तर मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है। इन महत्तर मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा अंतत: जिस घटना के द्वारा होती है, वहीं महाकाव्य का महत्कार्य होता है।

महान कार्य की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसका साधक उसके अनुरूप चारित्रक गुणों और शक्तियों से सम्पन हो। अत: महाकाव्य का नायक अथवा केन्द्रीय पात्र असाधारण शक्ति और गुणों से सम्पन्न होता है और ये गुण उसके सहयोगी तथा विरोधी पात्रों में भी विभिन्न अनुपातों में विद्यमान रहते हैं।

उपर्युक्त संसार को वहन करने में समर्थ महाकाव्य की शैली भी स्वभावत: अत्यन्त गरिमा-विशिष्ट होनी चाहिए। इसलिए आचार्यों ने यह अवस्था दी है कि महाकाव्य की शैली साधारण स्तर से भिन्न, क्षुद्र प्रयोगों से मुक्त अलंकृत होनी चाहिए। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में यूनानी-रोमी आचार्य लोंजाइनस से प्रेरणा प्राप्त

कर अनेक सुधी समीक्षकों ने इस संदर्भ में 'उदात्य तत्त्व' पर विशेष बल दिया गया है जो महाकाव्य की मूल चेतना को अभिव्यक्ति करने में अपेक्षाकृत अधिक सक्षम है। अत: उसके आधार पर उदात्त कथानक, उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य, उदात्त चरित्र, उदात्त भाव-संपदा और उदात्त शैली को महाकाव्य के मूल तत्त्वों के रूप में रेखांकित किया गया है।

महाकाव्य के लक्षण

विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार है -

जिसमें सर्गों का निबंधन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें क्षत्रिय, जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों, नायक होता है। कहीं एक वंश के अनेक सत्कुलीन भूप भी नायक होते हैं।श्रृंगार, वीर और शांत में से कोई एक अंगी होता है तथा अन्य सभी रस अंग रूप होते हैं। उसमें सब नाटक संधियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक अथवा सज्जनाश्रित होती है। चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरंभ में नमस्कार, आशीर्वाद या वर्ण्य वस्तु निर्देश होता है। कहीं खलों की निंदा तथा सज्जनों का गुणकथन होता है। न अत्यल्प और न अतिदीर्घ अष्टाधिक सर्ग होते हैं जिनमें से प्रत्येक की रचना एक ही में की जाती है और सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन होता है। कहीं-कहीं एक ही सर्ग में अनेक छंद भी होते हैं। सर्ग के अंत में आगामी कथा की सूचना होनी चाहिए। उसमें संध्या, सूर्य, चंद्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रात:काल, मध्या", मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, संयोग, विप्रलंभ, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा और विवाह आदि का यथासंभव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ का उपर्युक्त निरूपण महाकाव्य के स्वरूप की वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध परिभाषा प्रस्तुत करने के स्थान पर उसकी प्रमुख और गौण विशेषताओं का क्रमहीन विवरण उपस्थित करता है। इसके आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र में उपलब्ध महाकाव्य के लक्षणों का सार इस प्रकार किया जा सकता है-

कथानक

महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक अथवा इतिहासाश्रित होना चाहिए।

विस्तार – कथानक का कलेवर जीवन के विविध रूपों एवं वर्णनों से समृद्ध होना चाहिए। ये वर्णन प्राकृतिक, सामाजिक, और राजीतिक क्षेत्रों से इस

प्रकार संबंद्ध होने चाहिए कि इनके माध्यम से मानव जीवन का पूर्ण चित्र उसके संपूर्ण वैभव, वैचित्रय एवं विस्तार के साथ उपस्थित हो सके। इसीलिए उसका आयाम विस्तृत होना चाहिए।

विन्यास

कथानक की संघटना नाट्य संधियों के विधान से युक्त होनी चाहिए अर्थात् महाकाव्य के कथानक का विकास क्रमिक होना चाहिए। उसकी आधिकारिक कथा एवं अन्य प्रकरणों का पारस्परिक संबंध उपकार्य–उपकारक–भाव से होना चाहिए तथा इनमें औचित्यपूर्ण पूर्वापर अन्विति रहनी चाहिए।

नायक

महाकाव्य का नायक देवता या सदृश क्षत्रिय हो, जिसका चरित्र धीरोदात्त गुणों से समन्वित हो – अर्थात् वह महासत्त्व, अत्यंत गंभीर, क्षमावान् अविकत्थन, स्थिरचरित्र, निगूढ़, अहंकारवान् और दृढ़व्रात होना चाहिए। पात्र भी उसी के अनुरूप विशिष्ट व्यक्ति, राजपूत्र, मुनि आदि होने चाहिए।

दृष्टिमहाकाव्य मेंश्रृंगार, वीर, शांत एवं करुण में से किसी एक रस की स्थिति अंगी रूप में तथा अन्य रसों की अंग रूप में होती है।

फल

महाकाव्य सद्वृत होता है अर्थात् उसकी प्रवृत्ति शिव एवं सत्य की ओर होती है और उसका उद्देश्य होता है चतुवर्ग की प्राप्ति।

शैली

शैली के संदर्भ में संस्कृत के आचार्यों ने प्रायः अत्यंत स्थूल रूढ़ियों का उल्लेख किया है – उदाहरणार्थ एक ही छंद में सर्ग रचना तथा सर्गांत में छंदपरिवर्तन, अष्टाधिक सर्गों में विभाजन, नामकरण का आधार आदि। परंतु महाकाव्य के अन्य लक्षणों के आलोक में यह स्पष्ट ही है कि महाकाव्य की शैली नानावर्णन क्षमा, विस्तारगर्भा, श्रव्य वृत्तों से अलंकृत, महाप्राण होनी चाहिए। आचार्य भामह ने इस भाषा को सालंकार, अग्राम्य शब्दों से युक्त अर्थात् शिष्ट नागर भाषा कहा है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार

महाकाव्य के जिन लक्षणों का निरूपण भारतीय आचार्यों ने किया, शब्दभेद से उन्हीं से मिलती-जुलती विशेषताओं का उल्लेख पश्चिम के आचार्यों ने भी किया है। अरस्तू ने त्रासदी से महाकाव्य की तुलना करते हुए कहा है कि 'गीत एवं दृश्यविघान के अतिरिक्त दोनों के अंग भी समान ही हैं।' अर्थात् महाकाव्य के मूल तत्त्व चार हैं -

कथावस्तु,

चरित्र,

विचारतत्त्व और

पदावली।

कथावस्तु

कथावस्तु के संबंध में उनका मत है कि महाकाव्य की कथावस्तु एक ओर शुद्ध ऐतिहासिक यथार्थ से भिन्न होती है ओर दूसरी ओर सर्वथा काल्पनिक भी नहीं होती। वह प्रख्यात होनी चाहिए, और उसमें यथार्थ से भव्यतर जीवन का अंकन होना चाहिए।

कथावस्तु का आयाम विस्तृत होना चाहिए जिसके अंतर्गत विविध उपाख्यानों का समावेश हो सके। 'उसमें अपनी सीमाओं का विस्तार करने की बड़ी क्षमता होती है' क्योंकि त्रासदी की भांति वह रंगमंच की देशकाल संबंधी सीमाओं में परिबद्ध नहीं होता। उसमें अनेक घटनाओं का सहज समावेश हो सकता है जिससे एक ओर काव्य को घनत्व और गरिमा प्राप्त होती है और दूसरी ओर अनेक उपाख्यानों के नियोजन के कारण रोचक वैविध्य उत्पन्न हो जाता है।

किंतु कथानक का यह विस्तार अनियंत्रित नहीं होना चाहिए। उसमें एक ही कार्य होना चाहिए जो आदि मध्य अवसान से युक्त एवं स्वत: पूर्ण हो। समस्त उपाख्यान इसी प्रमुख कार्य के साथ संबंद्ध और इस प्रकार से गुंफित हों कि उनका परिणाम एक ही हो।

इसके अतिरिक्त त्रसदी के वस्तुसंगठन के अन्य गुण -पूर्वापरक्रम, संभाव्यता तथा कुतूहल -भी महाकाव्य में यथावत् विद्यमान रहते हैं। उसकी परिधि में अद्‌भुत एवं अतिप्राकृत तत्त्व के लिये अधिक अवकाश रहता है और कुतूहल की संभावना भी महाकाव्य में अपेक्षाकृत अधिक रहती है। कथानक के सभी कुतूहलवर्धक अंग, जैसे स्थितिविपर्यय, अभिज्ञान, संवृति और विवृति, महाकाव्य का भी उत्कर्ष करते हैं।

पात्र

महाकाव्य के पात्रों के संबंध में अरस्तू ने केवल इतना कहा है कि 'महाकाव्य और त्रासदी में यह समानता है कि उसमें भी उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है।' त्रासदी के पात्रों से समानता के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि महाकाव्य के पात्र भी प्राय: त्रासदी के समान भद्र, वैभवशाली, कुलीन और यशस्वी होने चाहिए। रुद्रट के अनुसार महाकाव्य में प्रतिनायक और उसके कुल का भी वर्णन होता है।

प्रयोजन और प्रभाव

अरस्तू के अनुसार महाकाव्य का प्रभाव और प्रयोजन भी त्रसदी के समान होना चाहिए, अर्थात् मनोवेगों का विरेचन, उसका प्रयोजन और तज्जन्य मन:शांति उसका प्रभाव होना चाहिए। यह प्रभाव नैतिक अथवा रागात्मक अथवा दोनों प्रकार का हो सकता है।

भाषा, शैली और छंद

अरस्तू के शब्दों में महाकाव्य की शैली का भी 'पूर्ण उत्कर्ष यह है कि वह प्रसन्न (प्रसादगुण युक्त) हो किंतु क्षुद्र न हो।' अर्थात् गरिमा तथा प्रसादगुण महाकाव्य की शैली के मूल तत्त्व हैं, और गरिमा का आधार है असाधारणता। उनके मतानुसार महाकाव्य की भाषाशैली त्रसदी की करुणमधुर अलंकृत शैली से भिन्न, लोकातिक्रांत प्रयोगों से कलात्मक, उदात्त एवं गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए।

वीर छंद के प्रयोग पर बल

महाकाव्य की रचना के लिये वे आदि से अंत तक एक ही छंद – वीर छंद–के प्रयोग पर बल देते हैं क्योंकि उसका रूप अन्य वृत्तों की अपेक्षा अधिक भव्य एवं गरिमामय होता है जिसमें अप्रचलित एवं लाक्षणिक शब्द बड़ी सरलता से अंतर्भुक्त हो जाते हैं। परवर्ती विद्वानों ने भी महाकाव्य के विभिन्न तत्त्वों के संदर्भ में उन्हीं विशेषताओं का पुनराख्यान किया है जिनका उल्लेख आचार्य अरस्तू कर चुके थे। वीरकाव्य (महाकाव्य) का आधार सभी ने जातीय गौरव की पुराकथाओं को स्वीकार किया हे। जॉन हेरिंगटन वीरकाव्य के लिये ऐतिहासिक आधारभूमि की आवश्यकता पर बल देते हैं और स्पेंसर वीरकाव्य के लिये वैभव और गरिमा को आधारभूत तत्त्व मानते हैं। फ्रांस के कवि आलोचकों पैलेतिए,

वोकलें और रोनसार आदि ने भी महाकाव्य की कथावस्तु को सर्वाधिक गरिमायम, भव्य और उदात्त करते हुए उसके अंतर्गत ऐसे वातावरण के निर्माण का आग्रह किया है जो क्षुद्र घटनाओं से मुक्त एवं भव्य हो।

महाकाव्य के मूल तत्त्व

भारतीय और पाश्चात्य आलोचकों के उपर्युक्त निरूपण की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में ही महाकाव्य के विभिन्न तत्त्वों के संदर्भ में एक ही गुण पर बार-बार शब्दभेद से बल दिया गया है और वह है भव्यता एवं गरिमा, जो औदात्य से अंग हैं। वास्तव में, महाकाव्य व्यक्ति की चेतना से अनुप्राणित न होकर समस्त युग एवं राष्ट्र की चेतना से अनुप्राणित होता है। इसी कारण उसके मूल तत्त्व देशकाल सापेक्ष न होकर सार्वभौम होते हैं, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में, परंपरागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी, किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित करना संभव नहीं होता। ये मूल तत्त्व हैं –

उदात्त कथानक
उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य
उदात्त चरित्र
उदात्त भाव और
उदात्त शैली।

इस प्रकार औदात्य अथवा महत्तत्व ही महाकाव्य का प्राण है।

खंड काव्य

खंड काव्य साहित्य में प्रबंध काव्य का एक रूप है। किसी घटना विशेष को लेकर, जो जीवन में घटित होती है, उस पर लिखा गया काव्य खंड काव्य कहा जाता है।

परिभाषा

'खंड काव्य' की संस्कृत साहित्य में जो एकमात्र परिभाषा उपलब्ध है, वह इस प्रकार है–

भाषा विभाषा नियमात् काव्यं सर्गसमुत्थितम।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधि-साग्रयवर्जितम।

खंड काव्यं भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च।

इस परिभाषा के अनुसार– 'किसी भाषा या उपभाषा में सर्गबद्ध एवं एक कथा का निरूपक ऐसा पद्यात्मक ग्रंथ जिसमें सभी संधियां न हों, वह 'खंड काव्य' है।' वह महाकाव्य के केवल एक अंश का ही अनुसरण करता है। तदनुसार हिंदी के कतिपय आचार्य खंड काव्य ऐसे काव्य को मानते हैं, जिसकी रचना तो महाकाव्य के ढंग पर की गई हो, पर उसमें समग्र जीवन न ग्रहण कर केवल उसका खंड विशेष ही ग्रहण किया गया हो। अर्थात् खंड काव्य में एक खंड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है, जिससे वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः प्रतीत हो।

'खंड काव्य' शब्द से ही स्पष्ट होता है कि इसमें मानव जीवन की किसी एक ही घटना की प्रधानता रहती है, जिसमें चरित नायक का जीवन सम्पूर्ण रूप में कवि को प्रभावित नहीं करता। कवि चरित नायक के जीवन की किसी सर्वोत्कृष्ट घटना से प्रभावित होकर जीवन के उस खंड विशेष का अपने काव्य में पूर्णतया उद्घाटन करता है।

काव्य के भेद

हिन्दी साहित्य में काव्य के तीन मुख्य भेद प्रचलित हैं–

महाकाव्य

खण्ड–काव्य

मुक्तक काव्य।

खंड काव्य में मुख्य चरित्र की किसी एक प्रमुख विशेषता का चित्रण होने के कारण अधिक विविधता और विस्तार नहीं होता।

'मुक्तक काव्य' में कथा–सूत्र आवश्यक नहीं है। इसलिए उसमें घटना और चरित्र के अनिवार्य प्रसंग में भाव–योजना नहीं होती। वह किसी भाव–विशेष को आधार बनाकर की गई स्वतंत्र रचना है।

हिन्दी साहित्य में खंड काव्य प्रबंध काव्य का एक रूप है।

वस्तुतः खंड काव्य एक ऐसा पद्यबद्ध काव्य है, जिसके कथानक में एकात्मक अन्विति हो, कथा में एकांगिता हो तथा कथा विन्यास क्रम में आरंभ, विकास, चरम सीमा और निश्चित उद्देश्य में परिणति हो और वह आकार में लघु हो।

लघुता के मापदंड के रूप में आठ से कम सर्गों के प्रबंध काव्य को खंडकाव्य माना जाता है।

लक्षण

'काव्य-शास्त्र' में खंड काव्य के लक्षण गिना दिए गए हैं, जो निम्नानुसार हैं-

खंड काव्य के विषय में कहा गया है कि वह एक देशानुसारी होता है। यहाँ देश का अर्थ भाग या अंश है।

खंड काव्य में भी सर्ग होते हैं। हर सर्ग में छंद का बंधन इसमें भी होता है, लेकिन छंद परिवर्तन जरूरी नहीं है। प्रकृति वर्णन आदि हो सकता है, लेकिन वह भी आवश्यक नहीं है।

हिंदी साहित्य के खंड काव्य

आदिकाल में रचित खंड काव्य

अब्दुर्रहमान कृत संदेशरासक

नरपतिनाल्ह कृत बीसलदेव रासो

जिनधर्मसुरि कृत थूलिभद्दफाग

भक्तिकाल में रचित खंड काव्य

नरोत्तमदास कृत सुदामाचरित

नंददास कृत भँवरगीत, रुक्मिणी मंगल

तुलसीदास कृत पार्वती मंगल, जानकी मंगल

रीतिकाल में रचित खंड काव्य

पद्माकर विरचित हिम्मत बहादुर विरुदावली

आधुनिक काल के खंड काव्य (भारतेंदु युग)

श्रीधर पाठक का एकांतवासी योगी

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का हरिश्चंद्र

द्विवेदी युग में रचित खंड काव्य

मैथिलीशरण गुप्त–रंग में भंग, जयद्रथ वध, नलदमयंती, शकुंतला, किसान, अनाथ

सियारामशरण गुप्त–मौर्य विजय

रामनरेश त्रिपाठी–मिलन, पथिक

द्वारिका प्रसाद गुप्त–आत्मार्पण

छायावाद युग में रचित खंड काव्य
सुमित्रानंदन पंत–ग्रंथि
रामनरेश त्रिपाठी–स्वप्न
मैथिलीशरण गुप्त रूपंचवटी, अनध, वनवैभव, वक-संहार
अनूप शर्मा–सुनाल
सियारामशरण गुप्त–आत्मोत्सर्ग
सूर्यकांत त्रिपाठी निराला–तुलसीदास
शिवदास गुप्त–कीचक वध
श्याम लाल पाठक–कंसवध
रामचंद्रशुक्ल 'सरस'–अभिमन्यु वध
गोकुल चंद्र शर्मा–प्रणवीर प्रताप
नाथूराम शंकर शर्मा–गर्भरण्डा रहस्य, वायस विजय
छायावादोत्तर युग में विरचित खंड काव्य
मैथिलीशरण गुप्त–नहुष, कर्बला, नकुल, हिडिम्बा
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'–प्राणार्पण
सोहनलाल द्विवेदी–कुणाल
रामधारी सिंह दिनकर–कुरुक्षेत्र
श्याम नारायण पांडे–जय हनुमान
उदयशंकर भट्ट–कौन्तेय-कथा
आनंद मिश्र–चंदेरी का जौहर
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'–प्रयाण
गोपालप्रसाद व्यास–कदम-कदम बढ़ाए जा
डॉ रुसाल–भोजराज
नरेश मेहता–संशय की एक रात

4

संस्कृत साहित्य में काव्य परंपरा

क्या आप जानते हैं कि श्रुति अर्थात् वेद का समाज में इतना प्रचलन क्यों है? इसके प्रचलन का वस्तुतः कारण है इसका गेय गुण। क्योंकि समाज या साहित्य में गीति अर्थात् पद्य (काव्य) को जितनी सफलता मिलती है उतनी अन्य विधाओं को नहीं मिलती है। व्यवहार में भी देखा जा सकता है कि कोई भी काव्य जितनी आसानी से याद हो जाते हैं उतनी आसानी से कोई भी गद्यखण्ड याद नहीं हो पाता है, इसीप्रकार याद किया गया काव्य बहुत जल्द ही विस्मृत भी नहीं होता है। इसीलिए लम्बे समय तक श्रुति रूप में रहते हुए भी वेद का कोई भी अंश विस्मृत नहीं हुआ और बाद में लिपिबद्ध कर दिया गया। इसीलिए काव्य की परम्परा पहले से ही चलती आ रही है और इस विधा में अन्य विधाओं की अपेक्षा ज्यादे ग्रन्थ मिलते हैं।

आदिकाव्य के रूप में महर्षि वाल्मीकि रचित रामायण माना जाता है और वाल्मीकि को आदिकवि माना जाता है। चूंकि अबतक रामायण के समय का निश्चित कोई प्रमाण नहीं मिलता है फिर भी लौकिक संस्कृत में सबसे पहला कब तब महर्षि के मुख से अचानक निकल पड़ा जब वो सुबह के समय तमसा नदी में स्नान करने के उपरान्त जंगल के रास्ते से अपने कुटिया की तरफ जा रहे थे तो अचानक एक बहेलिए ने वृक्ष पर बैठे हुए दो क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से एक को मार दिया तो दूसरे क्रौंच के हृदय विदारक करुण ध्वनि को सुनकर निकल पडा–

मा निषाद। प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौंचमिथुनादेकवधी काममोहितम् / वाल्मीकिरामायण द्वितीयसर्ग (15)

आइये जानते हैं कि काव्य क्या है?

काव्य, कविता या पद्य, साहित्य की वह विधा है जिसमें किसी कहानी या मनोभाव को कलात्मक रूप से किसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। भारत में कविता का इतिहास और कविता का दर्शन बहुत पुराना है। इसका प्रारंभ भरतमुनि से समझा जा सकता है। कविता का शाब्दिक अर्थ है काव्यात्मक रचना या कवि की कृति, जो छन्दों कीश्रृंखलाओं में विधिवत बांधी जाती है।

काव्य वह वाक्य रचना है जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो। अर्थात् वह कला जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। रसगंगाधर में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दलंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं। पर 'अर्थ' की 'रमणीयता' कई प्रकार की हो सकती है। इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। साहित्य दर्पणाकार विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक जँचता है। उसके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है।। रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार की काव्य की आत्मा है।

काव्य- प्रकाश में काव्य तीन प्रकार के कहे गए हैं, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र। ध्वनि वह है जिस, में शब्दों से निकले हुए अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा छिपा हुआ अभिप्राय (व्यंग्य) प्रधान हो। गुणीभूत ब्यंग्य वह है जिसमें गौण हो। चित्र या अलंकार वह है जिसमें बिना ब्यंग्य के चमत्कार हो। इन तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम भी कहते हैं। काव्यप्रकाशकार का जोर छिपे हुए भाव पर अधिक जान पड़ता है, रस के उद्रेक पर नहीं। काव्य के दो और भेद किए गए हैं, महाकाव्य और खंड काव्य। महाकाव्य सर्गबद्ध और उसका नायक कोई देवता, राजा या धीरोदात्त गुंण संपन्न क्षत्रिय होना चाहिए। उसमेंश्रृंगार, वीर या शांत रसों में से कोई रस प्रधान होना चाहिए। बीच-बीच में करुणा, हास्य इत्यादि रस तथा और लोगों के प्रसंग भी आने चाहिए। कम-से-कम आठ सर्ग होने चाहिए। महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चंद्र, रात्रि, प्रभात, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु सागर, संयोग, विप्रलंभ, मुनि, पुर, यज्ञ, रणप्रयाण, विवाह आदि का यथास्थान सन्निवेश होना चाहिए। काव्य दो प्रकार का माना गया है, दृश्य और श्रव्य। दृश्य काब्य वह है जो अभिनय द्वारा दिखलाया जाय, जैसे, नाटक, प्रहसन, आदि जो पढ़ने और सुनेन योग्य हो, वह श्रव्य है। श्रव्य काव्य दोट-प्रकार का होता है, गद्य और पद्य। पद्य काव्य के महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद कहे जा चुके हैं। गद्य काव्य के

भी दो भेद किए गए हैं कथा और आख्यायिका। चंपू, विरुद और कारंभक तीन प्रकार के काव्य और माने गए हैं।

काव्य के विशेष अंग

काव्य के विभिन्न अंगों में रस का नाम सबसे पहले लिया जाता है। रस वह महत्वपूर्ण अंग है जिसके माध्यम से कोई भी काव्य प्रचलित होता है या फिर उसका पतन हो जाता है।

रस–श्रव्य काव्य के पठन अथवा श्रवण एवं दृश्य काव्य के दर्शन तथा श्रवण में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही काव्य में रस कहलाता है। रस से जिस भाव की अनुभूति होती है वह रस का स्थायी भाव होता है। रस, छंद और अलंकार – काव्य रचना के आवश्यक अवयव हैं।

रस का शाब्दिक अर्थ है – निचोड़। काव्य में जो आनन्द आता है वह ही काव्य का रस है। काव्य में आने वाला आनन्द अर्थात् रस लौकिक न होकर अलौकिक होता है। रस काव्य की आत्मा है। संस्कृत में कहा गया है कि "रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्" अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है।

रस अन्त:करण की वह शक्ति है, जिसके कारण इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं, मन कल्पना करता है, स्वप्न की स्मृति रहती है। रस आनंद रूप है और यही आनंद विशाल का, विराट का अनुभव भी है। यही आनंद अन्य सभी अनुभवों का अतिक्रमण भी है। आदमी इन्द्रियों पर संयम करता है, तो विषयों से अपने आप हट जाता है। परंतु उन विषयों के प्रति लगाव नहीं छूटता। रस का प्रयोग सार तत्त्व के अर्थ में चरक, सुश्रुत में मिलता है। दूसरे अर्थ में, अवयव तत्त्व के रूप में मिलता है। सब कुछ नष्ट हो जाय, व्यर्थ हो जाय पर जो भाव रूप तथा वस्तु रूप में बचा रहे, वही रस है। रस के रूप में जिसकी निष्पत्ति होती है, वह भाव ही है। जब रस बन जाता है, तो भाव नहीं रहता। केवल रस रहता है। उसकी भावता अपना रूपांतर कर लेती है। रस अपूर्व की उत्पत्ति है। नाट्य की प्रस्तुति में सब कुछ पहले से दिया रहता है, ज्ञात रहता है, सुना हुआ या देखा हुआ होता है। इसके बावजूद कुछ नया अनुभव मिलता है। वह अनुभव दूसरे अनुभवों को पीछे छोड़ देता है। अकेले एक शिखर पर पहुँचा देता है। रस का यह अपूर्व रूप अप्रमेय और अनिर्वचनीय है।

लौकिक काव्य की उत्पत्ति

लौकिक संस्कृत साहित्य का आरंभ वाल्मीकि कृत रामायण से होता है। इसे आदि काव्य कहा गया है। क्रौंच वध की घटना से द्रवित हुए वाल्मीकि ने रामायण की रचना की। जिसमें सरसता, स्वाभाविकता, विविध रसों का समन्वय, समास विहीन वाक्य प्राप्त होते हैं। रामायण की कविता सुंदरी को यत्रा-तत्र अलंकारों से सजाया गया। इसमें ग्रथित अलंकार के कारण कविता के लावण्य में कहीं से कोई कमी नहीं आई, बल्कि यहां पर प्रयुक्त किए गए अलंकार काव्य सौंदर्य में बृद्धि करते दिखते हैं। शैली की दृष्टि से लौकिक संस्कृत साहित्य को 4 भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. कालिदास (गुप्त काल) के पूर्व के काल- पाणिनि, वररूचि, अश्वघोष, भास आदि
2. (गुप्त काल) कालिदास के पश्चात् अलंकृत शैली (शब्दचमत्कार) के काव्य, 12 वीं शताब्दी तक
3. द्वयर्थीय त्र्यर्थीय काव्य
4. आधुनिक काव्य–हायकू, गजल आदि छन्द

लौकिक संस्कृत साहित्य के उपजीव्य मुख्य ग्रंथ हैं- वाल्मीकि कृत रामायण, व्यास कृत महाभारत तथा श्रीमद्भागवत। इसमें महाभारत तथा श्रीमद्भागवत को पुराण के अंतर्गत जबकि रामायण को महाकाव्य के अंतर्गत परिगणित किया जाता है।

महाकाव्य का लक्षण

महाकाव्य का लक्षण निर्धारण आचार्य भामह, दण्डी ने किया। भामह तथा दण्डी के अनुसार महाकाव्य उसे कहते हैं, जो सर्गों में बंधा हो। सर्गबन्धो महाकाव्यम्। इसके अतिरिक्त दण्डी इतिहास में प्रसिद्ध नायक देवता या धीर उदात्त गुणों वाला क्षत्रिय कुलीन क्षत्रिय नायक का होना अनिवार्य करते हैं। दण्डी अनलंकृत शैली का ध्यान रखते हैं। दोनों आचार्यों के सिद्धान्त का परिपाक आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में मिलता है। विश्वनाथ के साहित्य दर्पण में समेकित स्वरूप प्राप्त होता है। इसके अनुसार जिस में सर्ग का निबंधन हो, वह महाकाव्य कहा जाता है। महाकाव्य का नायक देवता या उसके सदृश क्षत्रिय जिसमें धीरोदात्त गुण हो, कुलीन वंश का राजा हो,शृंगार, वीर, शांत में से कोई एक अंगी

रस व कथा ऐतिहासिक या सज्जन आश्रित हो, ग्रंथ के आदि में मध्य में तथा अंत में मंगलाचरण किया गया हो, जिसमें 8 से अधिक सर्ग तथा प्रत्येक सर्ग का एक सुनिश्चित छंद हो, सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन होता हो तथा आगामी कथा की सूचना मिलती हो उसे महाकाव्य कहते हैं। इसमें दिन, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, मुनि, स्वर्ग आदि का वर्णन मिलता हो, इस प्रकार के काव्य महाकाव्य की श्रेणी में रखा गया है।

संस्कृत साहित्य का महत्व

विश्वभर की समस्त प्राचीन भाषाओं में संस्कृत का सर्वप्रथम और उच्च स्थान है। विश्व-साहित्य की पहली पुस्तक ऋग्वेद इसी भाषा का देदीप्यमान रत्न है। भारतीय संस्कृति का रहस्य इसी भाषा में निहित है। संस्कृत का अध्ययन किये बिना भारतीय संस्कृति का पूर्ण ज्ञान कभी सम्भव नहीं है। अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं की यह जननी है। आज भी भारत की समस्त भाषाएँ इसी वात्सल्यमयी जननी के स्तन्यामृत से पुष्टि पा रही हैं। पाश्चात्य विद्वान इसके अतिशय समृद्ध और विपुल साहित्य को देखकर आश्चर्य-चकित होते रहे हैं। भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी यदि कोई भाषा है तो वह संस्कृत ही है।

विश्व की समस्त प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य (वांग्मय) में संस्कृत का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यह महत्व अनेक कारणों और दृष्टियों से है। भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, अध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं विकास के सोपानों की संपूर्ण व्याख्या संस्कृत वांग्मय के माध्यम से आज उपलब्ध है। सहस्राब्दियों से इस भाषा और इसके वांग्मय को भारत में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। भारत की यह सांस्कृतिक भाषा रही है। सहस्राब्दियों तक समग्र भारत को सांस्कृतिक और भावात्मक एकता में आबद्ध रखने को इस भाषा ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी कारण भारतीय मनीषा ने इस भाषा को अमरभाषा या देववाणी के नाम से सम्मानित किया है।

ऋग्वेदसंहिताः सबसे पुराना ग्रंथ

ऋग्वेदसंहिता के कतिपय मंडलों की भाषा संस्कृतवाणी का सर्वप्राचीन उपलब्ध स्वरूप है। ऋग्वेदसंहिता इस भाषा का पुरातनतम ग्रंथ है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेदसंहिता केवल संस्कृतभाषा का प्राचीनतम ग्रंथ

नहीं है – अपितु वह आर्य जाति की संपूर्ण ग्रंथराशि में भी प्राचीनतम ग्रंथ है। दूसरे शब्दों में, समस्त विश्ववांग्मय का वह (ऋक्संहिता) सबसे पुरातन उपलब्ध ग्रंथ है। दस मंडलों के इस ग्रंथ का द्वितीय से सप्तम मंडल तक का अंश प्राचीनतम और प्रथम तथा दशम मंडल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक उस भाषा की अखंड और अविच्छिन्न परंपरा चली आ रही है। ऋक्संहिता केवल भारतीय वांग्मय की ही अमूल्य निधि नहीं है – वह समग्र आर्यजाति की, समस्त विश्ववांग्मय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विरासत है।

विश्व की प्राचीन प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का जो अध्ययन हुआ है, उसमें कदाचित् आर्यजाति से संबद्ध अनुशीलन का विशिष्ट स्थान है। इस वैशिष्ट्य का कारण यही ऋग्वेदसंहिता हैं। आर्यजाति की आद्यतम निवासभूमि, उनकी संस्कृति, सभ्यता, सामाजिक जीवन आदि के विषय में अनुशीलन हुए हैं ऋक्संहिता उन सबका सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक स्रोत रहा है। पश्चिम के विद्वानों ने संस्कृत भाषा और ऋक्संहिता से परिचय पाने के कारण ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन को सही दिशा दी तथा आर्यभाषाओं के भाषाशास्त्रीय विवेचन में प्रौढ़ि एवं शास्त्रीयता का विकास हुआ। भारत के वैदिक ऋषियों और विद्वानों ने अपने वैदिक वांग्मय को मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा प्राचीनतम रूप में अत्यंत सावधानी के साथ सुरक्षित और अधिकृत बनाए रखा। किसी प्रकार के ध्वनिपरक, मात्रापरक यहाँ तक कि स्वर (ऐक्सेंट) परक परिवर्तन से पूर्णतः बचाते रहने का निःस्वार्थ भाव में वैदिक वेदपाठी सहस्रब्दियों तक अथक प्रयास करते रहे। "वेद" शब्द से मंत्रभाग (संहिताभाग) और "ब्राह्मण" का बोध माना जाता था। "ब्राह्मण" भाग के तीन अंश – (1) ब्राह्मण, (2) आरण्यक और (3) उपनिषद् कहे गए हैं। लिपिकला के विकास से पूर्व मौखिक परंपरा द्वारा वेदपाठियों ने इनका संरक्षण किया। बहुत-सा वैदिक वांग्मय धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। पर आज भी जितना उपलब्ध है उसका महत्व असीम है। भारतीय दृष्टि से वेद को अपौरुषेय माना गया है। कहा जाता है, मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने मंत्रों का साक्षात्कार किया। आधुनिक जगत् इसे स्वीकार नहीं करता। फिर भी यह माना जाता है कि वेदव्यास ने वैदिक मंत्रों का संकलन करते हुए संहिताओं के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया। अतः संपूर्ण भारतीय संस्कृति वेदव्यास की युग-युग तक ऋणी बनी रहेगी।

इसका रचनाकाल ईसा से 5500-5200 पूर्व माना जाता है। भारतीय विद्वानों ने वेदों के रचनाकाल का आरंभ 4500 ई.पू. से माना है, परन्तु यूरोपीय विद्वान इनकी रचना का काल ईसा से 2000-1100 पूर्व मानते हैं।

दर्शनशास्त्र

वेद, वेदांग, उपवेद आदि के अतिरिक्त संस्कृत वांग्मय में दर्शनशास्त्र का वांग्मय भी अत्यंत विशाल है। पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, वैशेषिक और न्याय-इन छह प्रमुख आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त पचासों से अधिक आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के नाम तथा उनके वांग्मय उपलब्ध हैं जिनमें आत्मा, परमात्मा, जीवन, जगत्पदार्थमीमांसा, तत्त्वमीमांसा आदि के सन्दर्भ में अत्यंत प्रौढ़ विचार हुआ है। आस्तिक "षड्दर्शनों के प्रवर्तक आचार्यों के रूप में व्यास, जैमिनि, कपिल, पतंजिल, कणाद, गौतम आदि के नाम संस्कृत साहित्य में अमर हैं। अन्य आस्तिक दर्शनों में शैव, वैष्णव, तांत्रिक आदि सैकड़ों दर्शन आते हैं। आस्तिकेतर दर्शनों में बौद्धदर्शनों, जैनदर्शनों आदि के संस्कृत ग्रंथ बड़े ही प्रौढ़ और मौलिक हैं। इनमें गंभीर विवेचन हुआ है तथा उनकी विपुल ग्रंथराशि आज भी उपलब्ध है। चार्वाक, लोकायतिक, गार्हपत्य आदि नास्तिक दर्शनों का उल्लेख भी मिलता है। वेदप्रामण्य को माननेवाले आस्तिक और तदितर नास्तिक के आचार्यों और मनीषियों ने अत्यंत प्रचुर मात्रा में दार्शनिक वांग्मय का निर्माण किया है। दर्शन सूत्र के टीकाकार के रूप में परमादृत शंकराचार्य का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है।

लौकिक साहित्य

कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, भरत का नाट्यशास्त्र आदि संस्कृत के कुछ ऐसे अमूल्य ग्रंथरत्न हैं - जिनका समस्त संसार के प्राचीन वांग्मय में स्थान है।

वैदिक वांग्मय के अनंतर सांस्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत की भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मानी गई है। महाभारत का आज उपलब्ध स्वरूप एक लाख पद्यों का है। प्राचीन भारत की पौराणिक गाथाओं, समाजशास्त्रीय मान्यताओं, दार्शनिक आध्यात्मिक दृष्टियों, मिथकों, भारतीय ऐतिहासिक जीवनचित्रों आदि के साथ-साथ पौराणिक इतिहास, भूगोल और परंपरा का महाभारत महाकोश है। वाल्मीकि रामायण आद्य लौकिक महाकाव्य है। उसकी गणना आज भी विश्व के उच्चतम काव्यों में की जाती है। इनके अतिरिक्त अष्टादश पुराणों और उपपुराणादिकों का महाविशाल वांग्मय है जिनमें पौराणिक या मिथकीय पद्धति से केवल आर्यों का ही नहीं, भारत की समस्त

जनता और जातियों का सांस्कृतिक इतिहास अनुबद्ध है। इन पुराणकार मनीषियों ने भारत और भारत के बाहर से आयात सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक ऐक्य की प्रतिष्ठा का सहस्राब्दियों तक सफल प्रयास करते हुए भारतीय सांस्कृति को एकसूत्रता में आबद्ध किया है।

संस्कृत के लोकसाहित्य के आदिकवि वाल्मीकि के बाद गद्य–पद्य के लाखों श्रव्यकाव्यों और दृश्यकाव्यरूप नाटकों की रचना होती चली जिनमें अधिकांश लुप्त या नष्ट हो गए। पर जो स्वल्पांश आज उपलब्ध है, सारा विश्व उसका महत्व स्वीकार करता है। कवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में स्थान प्राप्त है। अश्वघोष, भास, भवभूति, बाणभट्ट, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, शूद्रक, विशाखदत्त आदि कवि और नाटककारों को अपने अपने क्षेत्रों में अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त है। सर्जनात्मक नाटकों के विचार से भी भारत का नाटक साहित्य अत्यंत संपन्न और महत्वशाली है। साहित्यशास्त्रीय समालोचन पद्धति के विचार से नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र के अत्यंत प्रौढ़, विवेचनपूर्ण और मौलिक प्रचुरसंख्यक कृतियों का संस्कृत में निर्माण हुआ है। सिद्धांत की दृष्टि से रसवाद और ध्वनिवाद के विचारों को मौलिक और अत्यंत व्यापक चिंतन माना जाता है। स्तोत्र, नीति और सुभाषित के भी अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त शिल्प, कला, संगीत, नृत्य आदि उन सभी विषयों के प्रौढ़ ग्रंथ संस्कृत भाषा के माध्यम से निर्मित हुए हैं जिनका किसी भी प्रकार से आदिमध्यकालीन भारतीय जीवन में किसी पक्ष के साथ संबंध रहा है। ऐसा समझा जाता है कि द्यूतविद्या, चौरविद्या आदि जैसे विषयों पर ग्रंथ बनाना भी संस्कृत पंडितों ने नहीं छोड़ा था। एक बात और थी भारतीय लोकजीवन में संस्कृत की ऐसी शास्त्रीय प्रतिष्ठा रही है कि ग्रंथों की मान्यता के लिए संस्कृत में रचना को आवश्यक माना जाता था। इसी कारण बौद्धों और जैनों, के दर्शन, धर्मसिद्धान्त, पुराणगाथा आदि नाना पक्षों के हजारों ग्रंथों को पालि या प्राकृत में ही नहीं संस्कृत में सप्रयास रचना हुई है। संस्कृत विद्या की न जाने कितनी महत्वपूर्ण शाखाओं का यहाँ उल्लेख भी अल्पस्थानता के कारण नहीं किया जा सकता है। परंतु निष्कर्ष रूप से पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारत की प्राचीन संस्कृत भाषा–अत्यंत समर्थ, संपन्न और ऐतिहासिक महत्व की भाषा है। इस प्राचीन वाणी का वांग्मय भी अत्यंत व्यापक, सर्वतोमुखी, मानवतावादी तथा परमसंपन्न रहा है। विश्व की भाषा और साहित्य में संस्कृत भाषा और साहित्य का स्थान अत्यंत महत्वशाली है। समस्त विश्व के प्रच्यविद्याप्रेमियों

ने संस्कृत को जो प्रतिष्ठा और उच्चासन दिया है, उसके लिए भारत के संस्कृतप्रेमी सदा कृतज्ञ बने रहेंगे।

वेद, वेदांग, उपवेद

यहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग "वांग्मय" के लिए है। वेद चार हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनकी अनेक शाखाएँ थीं जिनमें बहुत सी लुप्त हो चुकी हैं और कुछ सुरक्षित बच गई हैं जिनके संहिताग्रंथ हमें आज उपलब्ध हैं। इन्हीं की शाखाओं से संबद्ध ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् नामक ग्रंथों का विशाल वांग्मय प्राप्त है। वेदांगों में सर्वप्रमुख कल्पसूत्र हैं जिनके अवांतर वर्गों के रूप में और सूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र (शुल्बसूत्र भी है) का भी व्यापक साहित्य बचा हुआ है। इन्हीं की व्याख्या के रूप में समयानुसार धर्मसंहिताओं और स्मृतिग्रंथों का जो प्रचुर वांग्मय बना, मनुस्मृति का उनमें प्रमुख स्थान है। वेदांगों में शिक्षा-प्रातिशाख्य, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद शास्त्र से संबद्ध ग्रंथों का वैदिकोत्तर काल से निर्माण होता रहा है। अब तक इन सबका विशाल साहित्य उपलब्ध है। आज ज्योतिष की तीन शाखाएँ-गणित, सिद्धांत और फलित विकसित हो चुकी हैं और भारतीय गणितज्ञों की विश्व की बहुत सी मौलिक देन हैं। पाणिनि और उनसे पूर्वकालीन तथा परवर्ती वैयाकरणों द्वारा जाने कितने व्याकरणों की रचना हुई जिनमें पाणिनि का व्याकरण-संप्रदाय 2500 वर्षों से प्रतिष्ठित माना गया और आज विश्व भर में उसकी महिमा मान्य हो चुकी है।

पाणिनीय व्याकरण को त्रिामुनि व्याकरण भी कहते हैं, क्योंकि पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि इन तीन मुनियों के सत्प्रयास से यह व्याकरण पूर्णता को प्राप्त किया। यास्क का निरुक्त पाणिनि से पूर्वकाल का ग्रंथ है और उससे भी पहले निरुक्तिविद्या के अनेक आचार्य प्रसिद्ध हो चुके थे। शिक्षाप्रातिशाख्य ग्रंथों में कदाचित् ध्वनिविज्ञान, शास्त्र आदि का जितना प्राचीन और वैज्ञानिक विवेचन भारत की संस्कृत भाषा में हुआ है- वह अतुलनीय और आश्चर्यकारी है। उपवेद के रूप में चिकित्साविज्ञान के रूप में आयुर्वेद विद्या का वैदिककाल से ही प्रचार था और उसके पंडिताग्रंथ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेडसंहिता आदि) प्राचीन भारतीय मनीषा के वैज्ञानिक अध्ययन की विस्मयकारी निधि है। इस विद्या के भी विशाल वांग्मय का कालांतर में निर्माण हुआ। इसी प्रकार धनुर्वेद और राजनीति, गांधर्ववेद आदि को उपवेद कहा गया है तथा इनके

विषय को लेकर ग्रंथ के रूप में अथवा प्रसंगतिर्गत सन्दर्भों में पर्याप्त विचार मिलता है।

अर्थशास्त्र (ग्रन्थ)

अर्थशास्त्र, कौटिल्य या चाणक्य (चौथी शती ईसापूर्व) द्वारा रचित संस्कृत का एक ग्रन्थ है। इसमें राज्यव्यवस्था, कृषि, न्याय एवं राजनीति आदि के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है। अपने तरह का (राज्य-प्रबन्धन विषयक) यह प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसकी शैली उपदेशात्मक और सलाहात्मक (instructional) है। अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके रचनाकार का व्यक्तिनाम विष्णुगुप्त, गोत्रनाम कौटिल्य (कुटिल से व्युत्पन्न) और स्थानीय नाम चाणक्य (पिता का नाम चणक होने से) था। अर्थशास्त्र (15.431) में लेखक का स्पष्ट कथन है–

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदंकृतम् 'इति'

इस ग्रंथ की रचना उन आचार्य ने की जिन्होंने अन्याय तथा कुशासन से क्रुद्ध होकर नन्दों के हाथ में गए हुए शस्त्र, शास्त्र एवं पृथ्वी का शीघ्रता से उद्धार किया था। चाणक्य सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य (323-298 ई.पू.) के महामंत्री थे। उन्होंने चंद्रगुप्त के प्रशासकीय उपयोग के लिए इस ग्रंथ की रचना की थी। यह मुख्यतः सूत्रशैली में लिखा हुआ है और संस्कृत के सूत्रसाहित्य के काल और परंपरा में रखा जा सकता है। यह शास्त्र अनावश्यक विस्तार से रहित, समझने और ग्रहण करने में सरल एवं कौटिल्य द्वारा उन शब्दों में रचा गया है जिनका अर्थ सुनिश्चित हो चुका है।

अर्थशास्त्र में समसामयिक राजनीति, अर्थनीति, विधि, समाजनीति, तथा धर्मादि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस विषय के जितने ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हैं उनमें से वास्तविक जीवन का चित्रण करने के कारण यह सबसे अधिक मूल्यवान् है। इस शास्त्र के प्रकाश में न केवल धर्म, अर्थ और काम का प्रणयन और पालन होता है अपितु अधर्म, अनर्थ तथा अवांछनीय का शमन भी होता है। इस ग्रंथ की महत्ता को देखते हुए कई विद्वानों ने इसके पाठ, भाषांतर, व्याख्या और विवेचन पर बड़े परिश्रम के साथ बहुमूल्य कार्य किया है। यूरोपीय विद्वानों में हर्मान जाकोबी (ऑन दि अथॉरिटी ऑव कौटिलीय, इं.ए., 1918), ए. हिलेब्रांड्ट, डॉ. जॉली, प्रो.ए.बी. कीथ (ज.रा.ए.सी.) आदि के नाम आदर के

साथ लिए जा सकते हैं। अन्य भारतीय विद्वानों में डॉ. नरेन्द्रनाथ ला (स्टडीज इन ऐंशेंट हिंदू पॉलिटी, 1914), श्री प्रमथनाथ बनर्जी (पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेंट इंडिया), डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल (हिंदू पॉलिटी), प्रो. विनयकुमार सरकार (दि पाजिटिव बैकग्राउंड ऑव् हिंदू सोशियोलॉजी), प्रो. नारायणचंद्र वंद्योपाध्याय, डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

अभिज्ञान शाकुन्तलम् महाकवि कालिदास का विश्वविख्यात नाटक है, जिसका अनुवाद प्रायः सभी विदेशी भाषाओं में हो चुका है। इसमें राजा दुष्यन्त तथा शकुन्तला के प्रणय, विवाह, विरह, प्रत्याख्यान तथा पुनर्मिलन की एक सुन्दर कहानी है। पौराणिक कथा में दुष्यन्त को आकाशवाणी द्वारा बोध होता है पर इस नाटक में कवि ने मुद्रिका द्वारा इसका बोध कराया है।

इसकी नाटकीयता, इसके सुन्दर कथोपकथन, इसकी काव्य-सौंदर्य से भरी उपमाएँ और स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुई समयोचित सूक्तियाँ, और इन सबसे बढ़कर विविध प्रसंगों की ध्वन्यात्मकता इतनी अद्भुत है कि इन दृष्टियों से देखने

पर संस्कृत के भी अन्य नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल से टक्कर नहीं ले सकते, फिर अन्य भाषाओं का तो कहना ही क्या ! तो यहीं सबसे ज्यादा अच्छा है।

काव्य-सौंदर्य

जर्मन कवि गेटे ने अभिज्ञान शाकुन्तलं के बारे में कहा था- ''यदि तुम युवावस्था के फूल प्रौढ़ावस्था के फल और अन्य ऐसी सामग्रियां एक ही स्थान पर खोजना चाहो जिनसे आत्मा प्रभावित होती हो, तृप्त होती हो और शान्ति पाती हो, अर्थात् यदि तुम स्वर्ग और मर्त्यलोक को एक ही स्थान पर देखना चाहते हो तो मेरे मुख से सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है - शाकुन्तलम्, महान कवि कालिदास की एक अमर रचना !'' इसी प्रकार संस्कृत के विद्वानों में यह श्लोक प्रसिद्ध है-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थो *कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम॥

इसका अर्थ है - काव्य के जितने भी प्रकार हैं उनमें नाटक विशेष सुन्दर होता है। नाटकों में भी काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अभिज्ञान शाकुन्तलं का नाम सबसे ऊपर है। अभिज्ञान शाकुन्तलय का नाम सबसे ऊपर है। अभिज्ञान शाकुन्तलं में भी उसका चतुर्थ अंक और इस अंक में भी चौथा श्लोक तो बहुत ही रमणीय है।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् में नाटकीयता के साथ-साथ काव्य का अंश भी यथेष्ट मात्रा में है। इसमेंशृंगार मुख्य रस है, और उसके संयोग तथा वियोग दोनों ही पक्षों का परिपाक सुन्दर रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त हास्य, वीर तथा करुण रस की भी जहां-तहां अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। स्थान-स्थान पर सुन्दर और मनोहरिणी उतप्रेक्षाएं न केवल पाठक को चमत्कृत कर देती हैं, किन्तु अभीष्ट भाव की तीव्रता को बढ़ाने में ही सहायक होती हैं।

सारे नाटक में कालिदास ने अपनी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का उपयोग कहीं भी केवल अलंकार-प्रदर्शन के लिए नहीं किया। प्रत्येक स्थान पर उनकी उपमा या उत्प्रेक्षा अर्थ की अभिव्यक्ति को रसपूर्ण बनाने में सहायक हुई है। कालिदास अपनी उपमाओं के लिए संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध हैं। शाकुन्तल में भी उनकी उपयुक्त उपमा चुनने की शक्ति भली-भांति प्रकट हुई। शकुन्तला के विषय में एक जगह राजा दुष्यन्त कहते हैं कि 'वह ऐसा फूल है, जिसे किसी ने सूंघा नहीं है, ऐसा नवपल्लव है, जिस पर किसी के नखों की खरोंच नहीं

लगी, ऐसा रत्न है, जिसमें छेद नहीं किया गया और ऐसा मधु है, जिसका स्वाद किसी ने चखा नहीं है।'

इन उपमाओं के द्वारा शकुन्तला के सौंदर्य की एक अनोखी झलक हमारी आंखों के सामने आ जाती है। इसी प्रकार पांचवें अंक में दुश्यन्त शकुन्तला का परित्याग करते हुए कहते हैं कि 'हे तपस्विनी, क्या तुम वैसे ही अपने कुल को कलंकित करना और मुझे पतित करना चाहती हो, जैसे तट को तोड़कर बहने वाली नदी तट के वृक्ष को तो गिराती ही है और अपने जल को भी मलिन कर लेती है।' यहां शकुन्तला की चट को तोड़कर बहने वाली नदी से दी गई उपमा राजा के मनोभाव को व्यक्त करने में विशेष रूप से सहायक होती है। इसी प्रकार जब कण्व के शिष्य शकुन्तला को साथ लेकर दुष्यन्त के पास पहुंचते हैं तो दुष्यन्त की दृष्टि उन तपस्वियों के बीच में शकुन्तला के ऊपर जाकर पड़ती है। वहां शकुन्तला के सौंदर्य का विस्तृत न करके कवि ने उनके मुख से केवल इतना कहलवा दिया है कि 'इन तपस्वियों के बीच में वह घूंघट वाली सुन्दरी कौन है, जो पीले पत्तों के बीच में नई कोंपल के समान दिखाई पड़ रही है।' इस छोटी-सी उपमा नेपीले पत्ते और कोंपल की सदृश्यता के द्वारा शकुन्तला के सौन्दर्य का पूरा ही चित्रांकन कर दिया है। इसी प्रकार सर्वदमन को देखकर दुष्यन्त कहते हैं कि 'यह प्रतापी बालक उस अग्नि के स्फुलिंग की भांति प्रतीत होता है, जो धधकती आग बनने के लिए ईधन की राह देखता है।' इस उपमा से कालिदास ने न केवल बालक की तेजस्विता प्रकट कर दी, बल्कि यह भी स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया है कि यह बालक बड़ा होकर महाप्रतापी चक्रवर्ती सम्राट बनेगा। इस प्रकार की मनोहर उपमाओं के अनेक उदाहरण शाकुन्तल में से दिये जा सकते हैं क्योंकि शाकुन्तल में 180 उपमाएं प्रयुक्त हुई हैं। और उनमें से सभी एक से एक बढ़कर हैं।

यह ठीक है उपमा के चुनाव में कालिदास को विशेष कुशलता प्राप्त थी और यह भी ठीक है कि उनकी-सी सुन्दर उपमाएँ अन्य कवियों की रचनाओं में दुर्लभ हैं, फिर भी कालिदास की सबसे बड़ी विशेषता उपमा-कौशल नहीं है। उपमा-कौशल तो उनके काव्य-कौशल का एक सामान्य-सा अंग है। अपने मनोभाव को व्यक्त करने अथवा किसी रस का परिपाक करने अथवा किसी भाव की तीव्र अनुभूति को जगाने की कालिदास अनेक विधियां जानते हैं। शब्दों का प्रसंगोचित चयन, अभीष्ट भाव के उपयुक्त छंद का चुनाव और व्यंजना-शक्ति का प्रयोग करके कालिदास ने अपनी शैली को विशेष रूप से रमणीय बना दिया है।

मौलिक न होने पर भी मौलिक

(कालिदास) ने अभिज्ञान शाकुन्तल की कथावस्तु मौलिक नहीं चुनी। यह कथा महाभारत के आदिपर्व से ली गई है। यों पद्मपुराण में भी शकुंतला की कथा मिलती है और वह महाभारत की अपेक्षा शकुन्तला की कथा के अधिक निकट है। इस कारण विन्टरनिट्ज् की कथा पद्मपुराण से ली गई है। परन्तु विद्वानों का कथन है कि पद्मपुराण का यह भाग शकुन्तला की रचना के बाद लिखा और बाद में प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। महाभारत की कथा में दुर्वासा के शाप का उल्लेख नहीं है। महाभारत का दुष्यन्त से यदि ठीक उलटा नहीं, तो भी बहुत अधिक भिन्न है।

महाभारत की शकुन्तला भी कालिदास की भांति सलज्ज नहीं है। वह दुष्यन्त को विश्वामित्र और मेनका के सम्बन्ध के फलस्वरूप हुए अपने जन्म की कथा अपने मुंह से ही सुनाती है। महाभारत में दुष्यन्त शकुन्तला के रूप पर मुग्ध

होकर शकुन्तला से गांधर्व विवाह की प्रार्थना करता है, जिस पर शकुन्तला कहती है कि मैं विवाह इस शर्त पर कर सकती हूँ कि राजसिंहासन मेरे पुत्र को ही मिले। दुष्यन्त उस समय तो स्वीकार कर लेता है और बाद में अपनी राजधानी में लौटकर जान-बूझकर लज्जावश शकुन्तला को ग्रहण नहीं करता।

कालिदास ने इस प्रकार अपरिष्कृत रूप में प्राप्त हुई कथा को अपनी कल्पना से अद्‌भुत रूप में निखार दिया है। दुर्वासा के शाप की कल्पना करके उन्होंने दुष्यन्त के चरित्र को ऊंचा उठाया है। कालिदास की शकुन्तला भी आभिजात्य, सौंदर्य और करुणा की मूर्ति है। इसके अतिरिक्त कालिदास ने सारी कथा का निर्वाह, भावों का चित्रण इत्यादि जिस ढंग से किया है, वह मौलिक और अपूर्व है।

कथा

शकुंतला राजा दुष्यंत की पत्नी थी जो भारत के सुप्रसिद्ध राजा भरत की माता और मेनका अप्सरा की कन्या थी। महाभारत में लिखा है कि शंकुतला का जन्म मेनका अप्सरा के गर्भ से हुआ था जो इसे वन में छोड़कर चली गई थी।

वन में शंकुतों (पक्षियों) आदि ने हिंसक पशुओं से इसकी रक्षा की थी, इसी से इसका नाम शकुंतला पड़ा। वन में से इसे कण्व ऋषि उठा लाए थे और अपने

आश्रम में रखकर कन्या के समान पालते थे। एक बार राजा दुष्यंत अपने साथ कुछ सैनिकों को लेकर शिकार खेलने निकले और घूमते फिरते कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचे। ऋषि उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थे, इससे युवती शकुंतला ने ही राजा दुष्यंत का आतिथ्य सत्कार किया। उसी अवसर पर दोनों में प्रेम और फिर गंधर्व विवाह हो गया। कुछ दिनों बाद राजा दुष्यंत वहाँ से अपने राज्य को चले गए। कण्व मुनि जब लौटकर आए, तब यह जानकर बहुत प्रसन्न हुए कि शकुंतला का विवाह दुष्यंत से हो गया। शकुंतला उस समय गर्भवती हो चुकी थी। समय पाकर उसके गर्भ से बहुत ही बलवान् और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'भरत' रखा गया। कहते हैं, 'भारत' नाम 'भरत' के नाम पर ही पड़ा। कुछ दिनों बाद शकुंतला अपने पुत्र को लेकर दुष्यंत के दरबार में पहुँची। परंतु शकुंतला को बीच में दुर्वासा ऋषि का शाप मिल चुका था। राजा ने इसे बिल्कुल नहीं पहचाना और स्पष्ट कह दिया कि न तो मैं तुम्हें जानता हूँ और न तुम्हें अपने यहाँ आश्रय दे सकता हूँ। परंतु इसी अवसर पर एक आकाशवाणी हुई, जिससे राजा को विदित हुआ कि यह मेरी ही पत्नी है और यह पुत्र भी मेरा ही है। उन्हें कण्व मुनि के आश्रम की सब बातें स्मरण हो आईं और उन्होंने शकुंतला को अपनी प्रधान रानी बनाकर अपने यहाँ रख लिया।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में अनेक मार्मिक प्रसंगों का उल्लेख किया गया है। एक उस समय, जब दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन होता है। दूसरा उस समय, जब कण्व शकुन्तला को अपने आश्रम से पतिगृह के लिए विदा करते हैं। उस समय तो स्वयं ऋषि कहते हैं कि मेरे जैसे ऋषि को अपनी पालिता कन्या में यह मोह है तो जिनकी औरस पुत्रियाँ पतिगृह के लिए विदा होती हैं उस समय उनकी क्या स्थिति होती होगी।

तीसरा प्रसंग है, शकुन्तला का दुष्यन्त की सभा में उपस्थित होना और दुष्यन्त को उसको पहचानने से इनकार करना। चौथा प्रसंग है उस समय का, जब मछुआरे को प्राप्त दुष्यन्त के नाम वाली अंगूठी उसको दिखाई जाती है। और पांचवां प्रसंग मारीचि महर्षि के आश्रम में दुष्यन्त-शकुन्तला के मिलन का।

ध्वन्यात्मक संकेत

शकुन्तला में कालिदास का सबसे बड़ा चमत्कार उसके ध्वन्यात्मक संकेतों में है। इसमें कवि को विलक्षण सफलता यह मिली है कि उसने कहीं भी कोई भी वस्तु निष्प्रयोजन नहीं कही। कोई भी पात्र, कोई भी कथोपकथन, कोई भी

घटना, कोई भी प्राकृतिक दृश्य निष्प्रयोजन नहीं है। सभी घटनाएं यह दृश्य आगे आने वाली घटनाओं का संकेत चमत्कारिक रीति से पहले ही दे देते हैं। नाटक के प्रारम्भ में ही ग्रीष्म-वर्णन करते हुए वन-वायु के पाटल की सुगंधि से मिलकर सुगंधित हो उठने और छाया में लेटते ही नींद आने लगने और दिवस का अन्त रमणीय होने के द्वारा नाटक की कथा-वस्तु की मोटे तौर पर सूचना दे दी गई है, जो क्रमशः पहले शकुन्तला और दुष्यन्त के मिलन, उसके बाद नींद-प्रभाव से शकुन्तला को भूल जाने और नाटक का अन्त सुखद होने की सूचक है। इसी प्रकार नाटक के प्रारम्भिक गीत में भ्रमरों द्वारा शिरीष के फूलों को जरा-जरा-सा चूमने से यह संकेत मिलता है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन अल्पस्थायी होगा। जब राजा धनुष पर बाण चढ़ाए हरिण के पीछे दौड़े जा रहे हैं, तभी कुछ तपस्वी आकर रोकते हैं। कहते हैं-'महाराज' यह आश्रम का हरिण है, इस पर तीर न चलाना।' यहां हरिण के अतिरिक्त शकुन्तला की ओर भी संकेत है, जो हरिण के समान ही भोली-भाली और असहाय है। 'कहां तो हरिणों का अत्यन्त चंचल जीवन और कहां तुम्हारे वज्र के समान कठोर बाण !' इससे भी शकुन्तला की असहायता और सरलता तथा राजा की निष्ठुरता का मर्मस्पर्शी संकेत किया गया है। जब दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम कुछ और बढ़ने लगता है, तभी नेपथ्य से पुकार सुनाई पड़ती है कि 'तपस्वियों, आश्रम के प्राणियों की रक्षा के लिए तैयार हो जाओ। शिकारी राजा दुष्यन्त यहां आया हुआ है।' इसमें भी दुष्यन्त के हाथों से शकुन्तला की रक्षा की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है, परन्तु यह संकेत किसी के भी कान में सुनाई नहीं दिया, शकुन्तला को किसी ने नहीं बचाया। इससे स्थिति की करुणाजनकता और भी अधिक बढ़ जाती है।

चौथे अंक के प्रारम्भिक भाग में कण्व के शिष्य ने प्रभात का वर्णन करते हुए सुख और दुःख के निरन्तर साथ लगे रहने का तथा प्रिय के वियोग में स्त्रियों के असह्य दुःख का जो उल्लेख किया है, वह दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का परित्याग किए जाने के लिए पहले से ही पृष्ठभूमि-सी बना देता है। पांचवें अंक में रानी हंसपदिका एक गीत गाती हैं, जिसमें राजा को उनकी मधुर-वृत्ति के लिए उलाहना दिया गया है। दुष्यन्त भी यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने हंसपदिका से एक ही बार प्रेम किया है। इससे कवि यह गम्भीर संकेत देता है कि भले ही शकुन्तला को दुष्यन्त ने दुर्वासा के शाप के कारण भूलकर छोड़ा, परन्तु एक बार प्यार करने के बाद रानियों की उपेक्षा करना उनके लिए

कोई नई बात नहीं थी। अन्य रानियां भी उसकी इस मधुकर-वृत्ति का शिकार थीं। हंसपादिका के इस गीत की पृष्ठभूमि में शकुन्तला के परित्याग की घटना और भी क्रूर और कठोर जान पड़ती है। इसी प्रकार के ध्वन्यात्मक संकेतों से कालिदास ने सातवें अंक में दुष्यन्त, शकुन्तला और उसके पुत्र के मिलने के लिए सुखद पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। इन्द्र राजा दुष्यन्त को अपूर्व सम्मान प्रदान करते हैं। उसके बाद हेमकूट पर्वत पर प्रजापति के आश्रम में पहुंचते ही राजा को अनुभव होने लगता है कि जैसे वह अमृत के सरोवर में स्नान कर रहे हों। इस प्रकार के संकेतों के बाद दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन और भी अधिक मनोहर हो उठता है।

मेघदूतम्

किसी ग्रन्थ की महत्ता और उपादेयता उसकी लोकप्रियता पर निर्भर करती है। विद्वान और अविद्वान दोनों को ही ग्रन्थ समान रूप से प्रिय होते हैं। वे ही ग्रन्थ प्रशंसनीय होते हैं और उन्हीं की महत्ता तथा उपादेयता भी स्वत: सिद्ध है।

संस्कृत साहित्य और कालिदास का सम्बन्ध अटूट है। संस्कृत साहित्य का सारा सौष्ठव बहुत कुछ इन ग्रन्थों पर निर्भर है। यदि संस्कृत साहित्य से कालिदास को हटा दिया जाये तो उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रहते हुए भी संस्कृत साहित्य की लोकप्रियता में कमी आ जाएगी।

कालिदास अथवा उनकी कृतियों के प्रशंसक भारत ही में नहीं अपितु विश्व-भर में पाये जाते हैं। अमेरिकी विद्वान राइडर ने उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए अन्त में यही कहा था, 'कालिदास महान् साहित्यकार थे।' जर्मन कवि गेटे ने तो उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कह डाला था और कालिदास की अनन्य कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' को पढ़कर उनके मुखे से बरबस निकल पड़ा था 'यदि तुम स्वर्ग और मृत्युलोक को एक ही स्थान पर देखना चाहते हो तो मेरे मुख से सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है–'शाकुन्तलम'।' कालिदास का 'मेघदूत' यद्यपि छोटा-सा काव्य-ग्रन्थ है, किन्तु इसके माध्यम से प्रेमी के विरह का जो वर्णन उन्होंने किया है उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना असंभव है। आषाढ़ और श्रावण का प्रेम और रति के प्रसंग में बड़ा महत्त्व माना गया है। न केवल संस्कृत में अपितु कालान्तर में उर्दू कवियों ने भी इस पर अपनी लेखनी चलायी है। किसी उर्दू कवि ने कहा है –

तौबा की थी, मैं न पियूंगा कभी शराब।
बादल का रंग देख नीयत बदल गयी।।

कालिदास ने जब आषाढ़ के प्रथम दिन आकाश पर मेघ उमड़ते देखे तो उनकी कल्पना ने उड़ान भरकर उनसे यक्ष और मेघ के माध्यम से विरह-व्यथा का वर्णन करने के लिए 'मेघदूत' की रचना करवा डाली। उनका विरही यक्ष अपनी प्रियतमा के लिए छटपटाने लगा और फिर उसने सोचा कि शाप के कारण तत्काल अल्कापुरी लौटना तो उसके लिए सम्भव नहीं है। इसलिए क्यों न संदेश भेज दिया जाए। कहीं ऐसा न हो कि बादलों को देखकर उनकी प्रिया उसके विरह में प्राण दे और कालिदास की यह कल्पना उनकी अनन्य कृति बन गयी।

'कुमार संभवम्' में यद्यपि कालिदास का कथानक तारक के अत्याचार से देवताओं को मुक्ति दिलाने का है। किन्तु इसमें भी शिव और पार्वती का जो प्रेमाख्यान है, वही मुख्य है। इस प्रसंग में उन्होंने स्वयं कहा है– 'तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः' पार्वती का जैसा प्रेम और शंकर जैसा पति, ये दोनों ही अलभ्य हैं। इसी आधार पर उन्होंने 'कुमार संभवम्' की रचना कर डाली।

पहली बार जब शंकर भगवान तपस्या कर रहे थे तो हिमालय के निर्देश पर उनकी कन्या पार्वती उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगी। क्योंकि नारदजी ने उनके मन में शंकर के प्रति प्रेम का बीज अंकुरित कर दिया था। किंतु जब शिवजी कामदेव का दहन कर अपनी तपस्या बीच में ही छोड़कर वहाँ से चले गये तो पार्वती को लगा कि वह रूप किस काम का जो अपने प्रिय को रिझा न सके। तब उन्होंने तपस्या द्वारा अपने प्रिय को रिझाने का संकल्प किया और उसके अनुसार वे कठोर तप में निरत हुई। पार्वती की तपस्या और शिवजी का छद्म रूप में आकर उसको शिव से विरत करना और अन्य में स्वयं को प्रकट कर उसका पाणिग्रहण करना तथा उसके साथ प्रेम-लीला कर कुमार की उत्पत्ति करना, यही इसका मुख्य उपादेय है। कुमार की देवसेना का सेनापतित्त्व ग्रहण कर तारक राक्षस से देवताओं का त्राण करना, इसका अपर उपादेय माना जाता है। यही 'कुमार संभवम्' की कहानी है।

'मेघदूत' और 'कुमार संभवम्' का यही हिन्दी रुपान्तर डायमण्ड संचालक नरेन्द्रजी की अन्यतम इच्छा के आधार पर पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। इसशृंखला में कालिदास की दो अन्य कृतियां 'रघुवंश' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पहले प्रकाशित हो चुकी हैं तथा भविष्य में उनके अन्य नाटकों के सरलीकरण भी शीघ्र ही पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जाएगा।

आत्मकथ्य अथवा कल्पना

अधिकांश विचारकों का मानना है कि कालिदास ने अपने जीवन की किसी विरह व्यथा कथा को मेघदूत में संदेश बनाकर निबद्ध किया है। हिंदी कवि नागार्जुन के अनुसार–

वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका प्रथम दिवस आषाढ़ मास का देख गगन में 'याम घन–घटा विधुर यक्ष का मन जब उचटा खड़े–खड़े जब हाथ जोड़कर चित्रकूट के सुभग शिखर पर उस बेचारे ने भेजा था जिनके द्वारा ही संदेशा उन पुष्करावर्त मेघों का साथी बनकर उड़ने वाले कालिदास! सच–सच बतलाना पर पीड़ा से पूर–पूर हो थक–थक कर और चूर–चूर हो अमल–धवल गिरि के शिखरों पर प्रियवर! तुम कब तक सोये थे? रोया यक्ष या तुम रोये थे? कालिदास! सच–सच बतलाना।

अन्य दूतकाव्य

महाभारत के "नलोपाख्यान" नामक आख्यान में नल तथा दमयंती द्वारा इसको दूत बनाकर परस्पर संदेश प्रेषण की जो कथा आई है, वह भी दूतकाव्य की परंपरा का ही अनुसरण है। कवि जिनसे (9वीं शती ईसवी) "मेघदूत" की तरह ही मंदाक्रांता छंद में तीर्थकर पार्श्वनाथ के जीवन से संबद्ध चार सर्गों का एक काव्य "पार्श्वाभ्युदय" लिखा जिसमें मेघ के दौत्य के रूप में मेघदूत के शताधिक पद्य समाविष्ट हैं। 15वीं शताब्दी में "नेमिनाथ" और "राजमती" वाले प्रसंग को लेकर "विक्रम" कवि ने "नेमिदूत" "काव्य लिखा, जिसमें मेघूदत" के 125 पद्यों के अंतिम चरणों को समस्या बनाकर कवि ने नेमिनाथ द्वारा परित्यक्त राजमती के विरह का वर्णन किया है। इसी काल में एक अन्य जैन कवि "चरित्रसुंदर गणि ने शांतरसपरक जैन काव्य "शीलदूत" की रचना की। इन दो कृतियों के अतिरिक्त विमलकीर्ति का "चंद्रदूत", अज्ञात कवि का "चेतोदूत" और मेघविजय उपाध्याय का "मेघदूत समस्या" इस परंपरा के अन्य जैन काव्य हैं।

रघुवंशम्

रघुवंश कालिदास रचित महाकाव्य है। इस महाकाव्य में उन्नीस सर्गों में रघु के कुल में उत्पन्न 29 राजाओं का इक्कीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग करते

हुए वर्णन किया गया है। इसमें दिलीप, रघु, दशरथ, राम, कुश और अतिथि का विशेष वर्णन किया गया है। वे सभी समाज में आदर्श स्थापित करने में सफल हुए। राम का इसमें विशद वर्णन किया गया है। उन्नीस में से छः सर्ग उनसे ही संबन्धित हैं।

आदिकवि वाल्मीकि ने राम को नायक बनाकर अपनी रामायण रची, जिसका अनुसरण विश्व के कई कवियों और लेखकों ने अपनी-अपनी भाषा में किया और राम की कथा को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया। कालिदास ने यद्यपि राम की कथा रची परंतु इस कथा में उन्होंने किसी एक पात्र को नायक के रूप में नहीं उभारा। उन्होंने अपनी कृति 'रघुवंश' में पूरे वंश की कथा रची, जो दिलीप से आरम्भ होती है और अग्निवर्ण पर समाप्त होती है। अग्निवर्ण के मरणोपरांत उसकी गर्भवती पत्नी के राज्यभिषेक के उपरान्त इस महाकाव्य की इतिश्री होती है।

रघुवंश पर सबसे प्राचीन उपलब्ध टीका 10वीं शताब्दी के काश्मीरी कवि वल्लभदेव की है। किन्तु सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका मल्लिनाथ (1350 ई - 1450 ई) द्वारा रचित 'संजीवनी' है।

परिचय

'रघुवंश' की कथा को कालिदास ने 19 सर्गों में बाँटा है जिनमें राजा दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, लव, कुश, अतिथि तथा बाद के 29 रघुवंशी राजाओं की कथा गूँथी गई है। इस वंश का पतन उसके अन्तिम राजा अग्निवर्ण के विलासिता की अति के कारण होता है और यहीं इस कृति की इति भी होती है।

इक्कीस सर्गों में वर्णित रघुवंशी राजाओं की नामावली क्रमानुसार निम्नलिखित है- यथा-

1. दिलीप
2. रघु
3. अज
4. दशरथ
5. राम
6. कुश
7. अतिथि

8. निषध
9. नल
10. नभ
11. पुण्डरीक
12. क्षेमधन्वा
13. देवानीक
14. अहीनगु
15. पारियात्र
16. शिल
17. उन्नाभ
18. वज्रनाभ
19. शंखण
20. व्युषिताश्व
21. विश्वसह
22. हिरण्यनाभ
23. कौसल्य
24. ब्रह्मिष्ठ
25. पुत्र
26. पुष्य
27. धृवसन्धि
28. सुदर्शन
29. अग्निवर्ण

इस कथा के माध्यम से कवि कालिदास ने राजा के चरित्र, आदर्श तथा राजधर्म जैसे विषयों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। भारत के इतिहास में सूर्यवंश के इस अध्याय का वह अंश भी है जिसमें एक ओर यह संदेश है कि राजधर्म का निर्वाह करनेवाले राजा की कीर्ति और यश देश भर में फैलती है, तो दूसरी ओर चरित्रहीन राजा के कारण अपयश व वंश-पतन निश्चित है, भले ही वह किसी भी उच्च वंश का वंशज ही क्यों न रहा हो!

समालोचकों ने कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रघुवंश' को माना है। आदि से अन्त तक इसमें निपुण कवि का विलक्षण कौशल व्यक्त होता है। दिलीप और सुदक्षिणा के तपोमय जीवन से प्रारम्भ इस काव्य में क्रमशः रघुवंशी

राजाओं की दान्यता, वीरता, त्याग और तप की एक के बाद एक कहानी उद्घाटित होती है और काव्य की समाप्ति कामुक अग्निवर्ण की विलासिता और उनके अवसान से होती है। दिलीप और सुदक्षिणा का तप:पूत आचरण, वरतंतु के शिष्य कौत्स और रघु का संवाद, इंदुमती स्वयंवर, अजविलाप, राम और सीता की विमानयात्र, निर्वासित सीता की तेजस्विता, संगमवर्णन, अयोध्या नगरी की शून्यता आदि का चित्र एक के बाद एक उभरता जाता है और पाठक विमुग्ध बना हुआ मनोयोग से उनको देखता जाता है। अनेक कथानकों का एकत्रीकरण होने पर भी इस महाकाव्य में कवि ने उनका एक दूसरे से एक प्रकार समन्वय कर दिया है जिससे उनमें स्वाभाविक प्रवाह का संचार हो गया है। 'रघुवंश' के अनेक नृपतियों की इस ज्योतित नक्षत्रमाला में कवि ने आदिकवि वाल्मीकि के महिमाशाली राम को तेजस्विता और गरिमा प्रदान की है। वर्णनों की सजीवता, आगत प्रसर्गों की स्वाभाविकता, शैली का माधुर्य तथा भाव और भाषा की दृष्टि से 'रघुवंश' संस्कृतमहाकाव्यों में अनुपम है।

रघुवंश महाकाव्य की शैली क्लिष्ट अथवा कृत्रिम नहीं, सरल और प्रसादगुणमयी है। अलंकारों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग स्वाभाविक एवं सहज सुंदर है। चुने हुए कुछ शब्दों में वर्ण्य विषय की सुंदर झाँकी दिखाने के साथ कवि ने 'रघुवंश' के तेरहवें सर्ग में इष्ट वस्तु के सौंदर्य की पराकाष्ठा दिखलाने की अद्भुत युक्ति का आश्रय लिया है। गंगा और यमुना के संगम की, उनके मिश्रित जल के प्रवाह की छटा का वर्णन करते समय एक के बाद एक उपमाओं की शृंखला उपस्थित करते हुए अन्त में कवि ने शिव के शरीर के साथ-साथ उसकी शोभा की उपमा दी है और इस प्रकार सौंदर्य को सीमा से निकालकर अनंत के हाथों सौंप दिया-

हे निर्दोष अंगोंवाली सीते, यमुना की तरंगों से मिले हुए गंगा के इस प्रवाह को जरा देखो तो सही, जो कहीं कृष्णा सर्पों से अलंकृत और कहीं भस्मांगराग से मंडित भगवान् शिव के शरीर के समान सुंदर प्रतीत हो रहा है

कालिदास मुख्यत: कोमल और रमणीय भावों के अभिव्यंजक कवि है। इसीलिए प्रकृति का कोमल, मनोरम और मधुर पक्ष उनकी इस कृति में भी अंकित हुआ है। रघुवंश काव्य के आरंभ में महाकवि ने रघुकुल के राजाओं का महत्त्व एवं उनकी योग्यता का वर्णन करने के बहाने प्राणिमात्र के लिए कितने ही प्रकार के रमणीय उपदेश दिये हैं। रघुवंश काव्य में कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को निमित्त बनाकर उदारचरित पुरुषों का स्वभाव पाठकों के सम्मुख रखा

है। रघुवंशी राजाओं का संक्षेप में वर्णन जानना हो तो रघुवंश के केवल एक श्लोक में उसकी परिणति इस प्रकार है–

त्यागाय समृतार्थानां सत्याय मिभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।
शैशवे *भ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनानन्ते तनुत्यजाम्।

(सत्पात्र को दान देने के लिए धन इकट्ठा करनेवाले, सत्य के लिए मितभाषी, यश के लिए विजय चाहनेवाले, और संतान के लिए विवाह करनेवाले, बाल्यकाल में विद्याध्ययन करने वाले, यौवन में सांसारिक भोग भोगने वाले, बुढ़ापे में मुनियों के समान रहने वाले और अन्त में योग के द्वारा शरीर का त्याग करने वाले (राजाओं का वर्णन करता हूँ।)

संस्कृत साहित्य की विशेषताएँ

संस्कृत साहित्य की महानता को प्रसिद्ध भारतविद जुआन मस्कारो (Juan Mascaro) ने इन शब्दों में वर्णन किया है–

Sanskrit literature is a great literature. We have the great songs of the Vedas, the splendor of the Upanishds, the glory of the Bhagvat-Gita, the vastness (100,000 verses) of the Mahabaharat, the tenderness and the heroism found in the Ramayana, the wisdom of the fables and stories of India, the scientific philosophy of Sankhya, the psychological philosophy of Vedanta, the Laws of Manu, the grammar of Panini and other scientific writings, the lyrical poetry, and dramas of Kalidas- Sanskrit literature, on the whole, is a romantic interwoven with idealism and practical wisdom, and with a passionate longing for spiritual vision.

संस्कृत साहित्य की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार है:–

अति विस्तृत रचना-काल

संस्कृत साहित्य की रचना अति प्राचीन काल (हजारों वर्ष ईसापूर्व) से लेकर अब तक निरन्तर चली आ रही है।

अति-विस्तृत क्षेत्र

संस्कृत साहित्य की रचना भारत और भारत से बाहर के देशों में हुई है। जो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं वे उत्तर-से-दक्षिण और पूर्व-से-पश्चिम तक कई हजार किमी के विस्तृत क्षेत्र से हैं।

विशालता

संस्कृत साहित्य इतना विशाल और विविधतापूर्ण है कि 'संस्कृत में क्या-क्या है?' - यह पूछने के बजाय प्रायः पूछा जाता है कि 'संस्कृते किं नास्ति?' (संस्कृत में क्या नहीं है?)। अनुमान है कि संस्कृत की पाण्डुलिपियों की कुल संख्या 3 करोड़ से भी अधिक होगी, यह संख्या ग्रीक और लैटिन पाण्डुलिपियों की सम्मिलित संख्या से सौ गुना से अधिक है। यह इतनी अधिक है कि बहुत सी पाण्डुलिपियाँ अभी तक सूचीबद्ध नहीं की सकी है, उन्हें पढ़ना और उनका अनुवाद आदि करना बहुत दूर की बात है।

विविधता

संस्कृत साहित्य की विविधता आश्चर्यचकित करने वाली है। इसमें धर्म और दर्शन, नाटक, कथा, काव्य आदि तो हैं ही, इसमें गणित, खगोलशास्त्र, आयुर्वेद, रसायन विज्ञान, रसशास्त्र, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, शिल्प आदि में रचित ग्रन्थों की संख्या कई लाख है। इसी तरह व्याकरण, काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, संगीत, कोश, कला, राजनीति, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, सुभाषित के भी असंख्य ग्रन्थ हैं।

सातत्य

प्राप्त पाण्डुलिपियों से स्वयं स्पष्ट है कि भारतीय महाखण्ड पर इतने सारे दैवी एवं मानवी आपदाओं (विदेशी आक्रमणों) के बावजूद हर कालखण्ड में संस्कृत साहित्य की रचना निर्बाध होती रही।

प्रगतिशीलता

मौलिकता

किसी दूसरी भाषा से अनूदित संस्कृत के ग्रन्थों की संख्या नहीं के बराबर है। इसके विपरीत संस्कृत के ग्रन्थों का विश्व भर में आदर था जिसके कारण अनेकों संस्कृत ग्रन्थों का अरबी, फारसी, तिब्बती, चीनी आदि में अनुवाद हुआ। हाँ संस्कृत के किसी ग्रन्थ पर अन्य लोगों द्वारा संस्कृत में ही टीका ग्रन्थ (भाष्य) लिखने की परम्परा अवश्य रही है।

गम्भीरता (Depth)

उत्कृष्टता (Excellence)

आज के युग के वैज्ञानिको ने भी यह माना है कि नई पीढ़ी के कम्प्यूटर के लिये संस्कृत ही सर्वोतम भाषा है।

वैज्ञानिकता

संस्कृत साहित्य अधिकांशतः अधार्मिक (या सेक्युलर) प्रकृति का है जिसे आज के युग के हिसाब से भी वैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसमें गणित है, खगोलविज्ञान है, आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) है, भाषाविज्ञान है, तर्कशास्त्र है, दर्शनशास्त्र है, रसशास्त्र (रसायन) है। गणित में भी केवल अंकगणित ही नहीं है, ज्यामिति भी है, ठोस ज्यामिति भी, बीजगणित (अल्जेब्रा) भी, त्रिकोणमिति भी और कैलकुलस भी।

पंथनिरपेक्षता

इतना प्राचीन होने के बावजूद संस्कृत साहित्य का अधिकांश भाग सेक्युलर तथा अधार्मिक है।

5

प्रबोधक काव्य

प्रबोधक काव्य (Didactic Poetry) कोई निश्चित काव्य रूप नहीं, बल्कि शैली, विषय-वस्तु और उद्देश्य की दृष्टि से एक विशिष्ट काव्य-प्रकार है। अंग्रेजी में इसे 'डाइडेक्टिक पोएट्री' कहा जाता है। ऐसा काव्य, जिसका उद्देश्य सीधे-सीधे उपदेश देना और पाठकों का सुधार करना हो और जिसका कलात्मक पक्ष उसके नैतिक या उपदेशात्मक पक्ष से बिल्कुल दब गया हो, 'प्रबोधक काव्य' कहा जाता है।

विषयवस्तु

कुछ कविताओं में कवि स्पष्ट शब्दों में किसी विशेष विषय या वस्तु के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाएँ देते हैं या अपने ज्ञान का प्रदर्शन इसलिए करते हैं कि पाठक उससे लाभ उठाएँ। ऐसा काव्य भी प्रबोधक काव्य की श्रेणी में ही आता है। इस दृष्टि से मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का वह समस्त नीतिकाव्य, जिसका उद्देश्य नीति का उपदेश देकर पाठकों को प्रबुद्ध या सचेतन करना था, प्रबोधक काव्य ही माना जाएगा। आधुनिक काल में द्विवेदी युग के बहुत-से कवियों ने देश, समाज और धर्म-सुधार के लिए अभिधात्मक शैली में जो कविताएँ लिखीं, वे भी प्रबोधक काव्य की कोटि में ही आती हैं।

द्विवेदी युगीन प्रबोधक काव्य

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'भारत भारती' प्रबोधक काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। स्थूल आदर्शवाद और पुनरुत्थान की प्रवृत्ति के कारण तथा

आर्य समाज की अतिशय सुधारवादी भावना के प्रभाव से द्विवेदी युगीन कविता में खण्डन-मण्डन, बौद्धिक तर्क-वितर्क और सीधे-सादे उपदेश देने की पद्धति विशेष रूप से अपनायी गयी और कलात्मक मूल्यों से अधिक नैतिक मूल्यों पर बल दिया गया। इस कारण उस युग की कविताएँ अधिकांशतः वर्णनात्मक, स्थूल, उपदेशात्मक और नीरस हैं। वे प्रायः सभी प्रबोधक काव्य हैं। अंग्रेजी में ड्राइडेन और पोप की बहुत-सी कविताएँ तथा वर्ड्सवर्थ की कुछ उत्तरकालीन कविताएँ प्रबोधक काव्य की कोटि में मानी जाती हैं।

विद्वान् मतभेद

प्रबोधन या उपदेश देना काव्य का प्राथमिक उद्देश्य है या नहीं, इस सम्बन्ध में प्राचीन काल से लेकर अब तक साहित्य-शास्त्रियों में बहुत मतभेद रहा है। व्यापक दृष्टि से देखने पर तो काव्य मात्र प्रबोधक होता है, क्योंकि प्रत्येक कविता से मनुष्य का किसी-न-किसी रूप में लाभ होता ही है। परंतु कुछ विचारक काव्य का सर्वप्रथम उद्देश्य प्रबोधन मानते हैं। प्लेटो तो स्पष्ट शब्दों में काव्य को उपदेश या नैतिक शिक्षण का साधन मानता था और विशुद्ध लिखने वालों को वह अपने आदर्श गणराज्य में स्थान देने तक को तैयार नहीं था। रोमन कवि और साहित्यशास्त्री हॉरेस ने प्रबोधन को काव्य का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानते हुए भी उसे एकमात्र उद्देश्य नहीं माना। उसके अनुसार कवि अपनी कविता द्वारा या तो शिक्षा देता है या आनन्द प्रदान करता है या दोनों कार्य करता है। आधुनिक युग के विचारक रस्किन, टॉल्सटाय और महात्मा गाँधी काव्य का उद्देश्य प्रबोधनात्मक ही मानते हैं।

भारतीय आलंकारिक मम्मट ने काव्य का प्रयोजन इस प्रकार बताया है-

'काव्यं यश से अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।, सद्यरूपरिनिर्वृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे।'

इस प्रकार मम्मट भी मानते हैं कि काव्य से व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा मिलती है, पर उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह उपदेश उसी प्रकार मधुर और आकर्षक रूप में होना चाहिए, जैसे पत्नी अपने पति को माधुर्यवेष्टित शैली में उपदेश देती है। अतः मम्मट भी हॉरेस की तरह उपदेश और आनन्द दोनों को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं, किंतु उपदेश इतना सीधा और स्पष्ट नहीं होना चाहिए कि श्रोता उसे प्रारम्भ में ही समझ जाएँ। हॉरेस के शब्दों में काव्यगत

उपदेश बच्चे को दी जाने वाली प्याले की कड़वी दवा है और उसका माधुर्य प्याले के छोर पर लिपटा शहद है। जैसे शहद के सहारे बच्चा कड़वी दवा पी लेता है, उसी तरह माधुर्य और आनन्द के माध्यम से पाठक या श्रोता उपदेश ग्रहण करते हैं। अतः जिस कविता में उपदेश माधुर्य या काव्य-सौन्दर्य से पूर्णरूपेण आवेष्टित नहीं होता, उसे प्रबोधक काव्य समझना चाहिये।

6

गजल

गजल

यह अरबी साहित्य की प्रसिद्ध काव्य विधा है जो बाद में फारसी, उर्दू, नेपाली और हिंदी साहित्य में भी बेहद लोकप्रिय हुई। संगीत के क्षेत्र में इस विधा को गाने के लिए इरानी और भारतीय संगीत के मिश्रण से अलग शैली निर्मित हुई।

माना कि गजल उर्दू काव्य का एक अत्यंत लोकप्रिय, मधुर, दिलकश और रसीला अंदाज हैं मगर यह भी उतना ही सच हैं कि उर्दू साहित्य में गजल चर्चा का एक विषय भी बनी रही हैं। एक तरफ तो गजल इतनी मधुर हैं कि वह लोगों के दिलों के नाजुक तारों को छेड़ देती हैं और दूसरी ओर वही गजल कुछ लोगों में कुछ ऐसी भावनाएं पैदा करती हैं कि जनाब कलीमुद्दीन अहमद साहब इसे 'नंगे-शायरी' यानी बेहूदी शायरी कहते हैं। जनाब शमीम अहमद शमीम इसे मनहूस शैली की शायरी कहते हैं, और जनाब अज्मतुल्लाखान साहब तो यह कहने में जरा भी नहीं हिचकिचाते कि, 'गजल काबिले गर्दन जदनी हैं', यानी इसे जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिये। वैसे तो 'गालिब' भी यह कहते हैं कि-

बकद्रे शौक नहीं जर्फे तंगना-ए-गजल।
कुछ और चाहिये वसुअत मेरे बयां के लिये॥

('मेरे मन की उत्कट भावनाओं को खुलकर व्यक्त करने में गजल का पटल बडा ही संकीर्ण हैं। मुझे साफ-साफ कहने के लिये किसी और विस्तृत माध्यम की आवश्यक्ता हैं'।)

उर्दू के सुप्रसिद्ध साहित्यिक एवं आलोचक रशीद अहमद सिद्दीकी साहब गजल को 'आब:-ए-शायरी' बड़े फख्र के साथ कहते हैं। शायद यही सब बातें हैं कि गजल आज तक कायम हैं और सामान्यत: सभी वर्गों में काफी हद तक पसंद की जाती हैं।

गजल पर्शियन और अरबी भाषाओं से उर्दू में आयी। गजल का मतलब हैं औरतों से अथवा औरतों के बारे में बातचीत करना। यह भी कहा जा सकता हैं कि गजल का सर्वसाधारण अर्थ हैं माशूक से बातचीत का माध्यम। उर्दू के प्रख्यात साहित्यिक स्वर्गीय रघुपति सहाय 'फिराक' गोरखपुरी साहब ने गजल की बड़ी ही भावपूर्ण परिभाषा लिखी हैं। आप कहते हैं कि, 'जब कोई शिकारी जंगल में कुत्तों के साथ हिरन का पीछा करता हैं और हिरन भागते-भागते किसी ऐसी झाड़ी में फंस जाता हैं जहाँ से वह निकल नहीं सकता, उस समय उसके कंठ से एक दर्द भरी आवाज निकलती हैं। उसी करूण स्वर को गजल कहते हैं। इसीलिये विवशता का दिव्यतम रूप में प्रगट होना, स्वर का करूणतम हो जाना ही गजल का आदर्श हैं'।

शुरूआत की गजलें कुछ इसी अंदाज की थीं। लगता था मानों वे स्त्रियों के बारे में ही लिखी गई हों। जैसे-

खूब-खूब काम करते हैं।
इक निगह सू गुलाम करते हैं।।
-वली दकनी
या
नाजुकी उसके लब की क्या कहिये
पंखड़ी एक गुलाब की सी हैं।
- मीर

लेकिन जैसे जैसे समय बीता, गजल का लेखन पटल बदला, विस्तृत हुआ और अब तो जिंदगी का ऐसा कोई पहलू नहीं हैं जिस पर गजल न लिखी गई हो।

सिगरेट जला के मैं जो जरा मुत्मइन हुआ।
चारों तरफ से उसको बुझाने चली हवा।।
- मिद्हतुल अख्तर
सिगरेट, गिलास, चाय का कप और नन्हा लैंप।
सामाने-शौक हैं ये बहम मेरी मेज पर।।
-जहीर गाजीपुरी

गजल का विश्लेषण

गजल शेरों से बनती हैं। हर शेर में दो पंक्तियां होती हैं। शेर की हर पंक्ति को मिसरा कहते हैं। गजल की खास बात यह हैं कि उसका प्रत्येक शेर अपने आप में एक संपूर्ण कविता होता हैं और उसका संबंध गजल में आने वाले अगले पिछले अथवा अन्य शेरों से हो, यह जरूरी नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी गजल में अगर 25 शेर हों तो यह कहना गलत न होगा कि उसमें 25 स्वतंत्र कविताएं हैं। शेर के पहले मिसरे को 'मिसर-ए-ऊला' और दूसरे को 'मिसर-ए-सानी' कहते हैं।

मत्ला

गजल के पहले शेर को 'मत्ला' कहते हैं। इसके दोनों मिसरों में यानि पंक्तियों में 'काफिया' होता हैं। अगर गजल के दूसरे सेर की दोनों पंक्तियों में भी काफिया हो तो उसे 'हुस्ने-मत्ला' या 'मत्ला-ए-सानी' कहा जाता हैं।

काफिया

वह शब्द जो मत्ले की दोनों पंक्तियों में और हर शेर की दूसरी पंक्ति में रदीफ के पहले आये उसे 'काफिया' कहते हैं। काफिया बदले हुए रूप में आ सकता हैं। लेकिन यह जरूरी है कि उसका उच्चारण समान हो, जैसे बर, गर तर, मर, डर, अथवा मकां, जहां, समां इत्यादि।

रदीफ

प्रत्येक शेर में 'काफिये' के बाद जो शब्द आता हैं उसे 'रदीफ' कहते हैं। पूरी गजल में रदीफ एक होती हैं। कुछ गजलों में रदीफ नहीं होती। ऐसी गजलों को 'गैर-मुरद्दफ गजल' कहा जाता हैं।

मक्ता

गजल के आखरी शेर को जिसमें शायर का नाम अथवा उपनाम हो उसे 'मक्ता' कहते हैं। अगर नाम न हो तो उसे केवल गजल का 'आखरी शेर' ही कहा जाता हैं। शायर के उपनाम को 'तखल्लुस' कहते हैं। निम्नलिखित गजल के माध्यम से अभी तक गजल के बारे में लिखी गयी बातें आसान हो जायेंगी।

कोई उम्मीद बर नहीं आती।
कोई सूरत नजर नहीं आती।।
मौत का एक दिन मुअय्यन हैं।
नींद क्यूं रात भर नहीं आती।। 2
आगे आती थी हाले दिल पे हंसी।
अब किसी बात पर नहीं आती।। 3
हम वहां हैं जहां से हमको भी।
कुछ हमारी खबर नहीं आती।। 4
काबा किस मुंह से जाओगे 'गालिब'।
शर्म तुमको मगर नहीं आती।। 5

इस गजल का 'काफिया' बर, नजर, भर, पर, खबर, मगर हैं। इस गजल की 'रदीफ' नहीं आती है। यह हर शेर की दूसरी पंक्ति के आखिर में आयी हैं। गजल के लिये यह अनिवार्य हैं। इस गजल के प्रथम शेर को 'मत्ला' कहेंगे क्योंकि इसकी दोनों पंक्तियों में 'रदीफ' और 'काफिया' हैं। सब से आखघ्री शेर गजल का 'मक्ता' कहलाएगा क्योंकि इसमें 'तखल्लुस' हैं।

बहर, वज्न या मीटर

शेर की पंक्तियों की लंबाई के अनुसार गजल की बहर नापी जाती हैं। इसे वज्न या मीटर भी कहते हैं। हर गजल उन्नीस प्रचलित बहरों में से किसी एक पर आधारित होती हैं। बोलचाल की भाषा में सर्वसाधारण गजल तीन बहरों में से किसी एक में होती हैं–

1. छोटी बहर–
   अहले दैरो–हरम रह गये।
   तेरे दीवाने कम रह गये।।
2. मध्यम बहर–
   उम्र जल्वों में बसर हो यो जरूरी तो नहीं।
   हर शबे–गम की सहर हो ये जरूरी तो नहीं।।
3. लंबी बहर–
   ऐ मेरे हमनशीं चल कहीं और चल इस चमन में अब अपना गुजारा नहीं।
   बात होती गुलों की तो सह लेते हम अब तो कांटो पे भी हक हमारा नहीं।।
   हासिले–गजल शेर–

गजल का सबसे अच्छा शेर 'हासिले-गजल शेर' कहलाता हैं।

हासिलें-मुशायरा गजल-

मुशायरे में जो सब से अच्छी गजल हो उसे 'हासिले-मुशायरा गजल' कहते हैं।

गजल का इतिहास

फारसी से गजल उर्दू में आई। उर्दू का पहला शायर जिसका काव्य-संकलन (दीवान) प्रकाशित हुआ हैं, वह हैं मोहम्मद कुली कुतुबशाह। आप दकन के बादशाह थे और आपकी शायरी में फारसी के अलावा उर्दू और उस वक्त की दकनी बोली भी शामिल थी।

पिया बाज पयाला पिया जाये ना।
पिया बाज यक तिल जिया जाये ना।।

कुली कुतुबशाह के बाद के शायर हैं गव्वासी, वजही, बहरी और कई अन्य। इस दौर से गुजरती गजल वली दकनी तक आ पहुंची और उस समय तक गजल पर छाई हुई दकनी छाप काफी कम हो गई। वली ने सर्वप्रथम गजल को अच्छी शायरी का दर्जा दिया और फारसी शायरी के बराबर ला खड़ा किया। दकन के लगभग तमाम शायरों की गजलें बिल्कुल सीधी और सुगम शब्दों के माध्यम से हुआ करतीं थीं।

पहला दौर

वली के साथ-साथ उर्दू शायरी दकन से उत्तर की ओर आई। यहां से उर्दू शायरी का पहला दौर शुरू होता हैं। उस वक्त के शायर आबरू, नाजी, मज्मून, हातिम इत्यादि थे। इन सब में वली की शायरी सब से अच्छी थी। इस दौर में उर्दू शायरी में दकनी शब्द काफी हद तक कम हो गये थे। इसी दौर के आखरि में आने वाले शायरों के नाम इस प्रकार हैं। मजहर जाने-जानाँ, सादुल्ला 'गुलशन', खान 'आरजू' इत्यादि। यकीनन इन सब ने मिलकर उर्दू शायरी को अच्छी तरक्की दी। मिसाल के तौर पर उनके कुछ शेर नीचे दिये गये हैं-

ये हसरत रह गई किस किस मजे से जिंदगी करते।
अगर होता चमन अपना, गुल अपना, बागबां अपना।।

-मजहर जाने-जानां

खुदा के वास्ते इसको न टोको।
यही एक शहर में कातिल रहा हैं।।
- मजहर जाने-जानां
जान, तुझ पर कुछ एतबार नहीं।
कि जिंदगानी का क्या भरोसा हैं।।
- खान आरजू

दूसरा दौर-

इस दौर के सब से मशहूर शायर हैं 'मीर' और 'सौदा'। इस दौर को उर्दू शायरी का 'सुवर्णकाल' कहा जाता हैं। इस दौर के अन्य शायरों में मीर 'दर्द' और मीर गुलाम हसन का नाम भी काफी मशहूर था। इस जमाने में उच्च कोंटि की गजलें लिखी गई जिसमें गजल की भाषा, गजल का उद्देश्य और उसकी नाजुकी या नजाकतों को संवारा गया। मीर की शायरी में दर्द कुछ इस तरह उभरा कि उसे दिल और दिल्ली का मर्सिया कहा जाने लगा।

देख तो दिल कि जां से उठाता हैं।
ये धुआं-सा कहां से उठता हैं।।

दर्द के साथ-साथ मीर की शायरी में नजाकत भी तारीफ के काबिल थी।

नाजुकी उसके लब की क्या कहिये।
पंखडी इक गुलाब की सी हैं।।
'मीर' इन नीमबाज आंखों में।
सारी मस्ती शराब की सी हैं।।

इस दौर की शायरी की एक और महत्वपूर्ण बात यह हैं कि इस जमाने के अधिकांश शायर सूफी पंथ के थे। इसलिये इस दौर की गजलों में सूफी पंथ के पवित्र विचारों का विवरण भी मिलता हैं।

वक्त ने करवट बदली और दिल्ली की सल्तनत का चिराग टिमटिमाने लगा। फैजाबाद और लखनऊ में, जहां दौलत की भरमार थी, शायर दिल्ली और दूसरी जगहों को छोड़कर, इकट्ठा होने लगे। इसी समय 'मुसहफी' और 'इंशा' की आपसी नोंक-झोंक के कारण उर्दू शायरी की गंभीरता कम हुई। 'जुर्अत' ने बिल्कुल हल्की-फुल्की और कभी-कभी सस्ती और अश्लील शायरी की। इस जमाने की शायरी का अंदाजा आप इन अशआर से लगा सकते हैं-

किसी के महरमे आबे रवां की याद आई।
हुबाब के जो बराबर कभी हुबाब आया।।

दुपटे को आगे से दुहरा न ओढों।
नुमुदार चीजें छुपाने से हासिल।।

लेकिन यह तो हुई 'इंशा', 'मुसहफी' और 'जुर्अत' की बात। जहां तक लकनवी अंदाज और बयान का सवाल हैं, उसकी बुनियाद 'नासिख' और 'आतिश' ने डाली। दुर्भाग्यवश इन दोनों की शायरी में भी हृदय और मन की कोमल तरल भावनाओं का बयान कम हैं और शारीरिक उतार-चढाव, बनाव-सिंगार और लिबास का वर्णन ज्यादा हैं। उर्दू शायरी अब दो अंदाजों में बट गयी, 'लखनवी' और 'देहलवी'। दिल्ली वाले जहां आशिक और माशूक के हृदय की गहराईयों में झांक रहे थे, वहां लखनऊ वाले महबूब के जिस्म, उसकी खूबसूरती बनाव-सिंगर और नाजों-अदा पर फिदा हो रहे थे। दिल्ली और लखनऊ में शायरी जब इस मोड पर थी, उसी समय दिल्ली में 'जौक', 'गालिब' और 'मोमिन' उर्दू गजल की परंपराओं का आगे बढ़ाने में जुटे हुए थे। यह कहना गलत न होगा कि 'गालिब' ने गजल में दार्शनिकता भरी, 'मोमीन' ने कोमलता पैदा की और 'जौक' ने भाषा को साफ सुथरा, सुगम और आसान बनाया। लिजिये इन शायरों के कुछ शेर पढ़िये-

गमे हस्ती का 'असद' किस से हो जुज मर्ग इलाज।
शमा हर रंग में जलती हैं सहर होने तक। - गालिब

तुम मेरे पास होते हो गोया।
जब कोई दूसरा नहीं होता।। - मोमिन

लाई हयात आये, कजा ले चली, चले।
अपनी खुशी न आये, न अपनी खुशी चले।। - जौक

इन तीनों महान शायरों के साथ एक बदनसीब शायर भी था जिसने जिंदगी के अंतिम क्षणों में वतन से दूर किसी जेल की अंधेरी कोठरी में लडखडाती जबान से कहा था-

कितना हैं बदनसीब 'जफर' दफ्न के लिये।
दो गज जमीन भी न मिली कू-ए-यार में।।
-बहादुरशाह जफर

1857 में दिल्ली उजड़ी, लखनऊ बर्बाद हुआ। ऐशो-आराम और शांति के दिन खत्म हुए। शायर अब दिल्ली और लखनऊ छोड़ रामपूर, भोपाल, मटियाब्रिज और हैदारबाद पहुंच वहां के दरबारों की शान बढ़ाने लगे। अब उर्दू शायरी में दिल्ली और लखनऊ का मिला-जुला अंदाज नजर आने लगा। इस दौर के दो मशहूर शायर 'दाग' और 'अमीर मीनाई' हैं।

यह वक्त अंग्रेजी हुकूमत की गिरफ्त का होते हुए भी भारतीय इंसान आजादी के लिये छटपटा रहा था और कभी-कभी बगावत भी कर बैठता। जन-जीवन जागृत हो रहा था। आजादी के सपने देखे जा रहे थे और लेखनी तलवार बन रही थी। अब गजलों में चारित्र्य और तत्त्वज्ञान की बातें उभरने लगीं। राष्ट्रीयता यानी कौमी भावनाओं पर कविताएं लिखी गई और अंग्रेजी हुकूमत एवं उसकी संस्कृती पर ढके-छुपे लेकिन तीखे व्यंगात्मक शेर भी लिखे जाने लगे। अब गजल में इश्क का केंद्र खुदा या माशुक न होकर राष्ट्र और मातृभूमि हुई। इसका मुख्य उद्देश्य अब आजादी हो गया। 'हाली', 'अकबर इलाहबादी' 'चकबिस्त' और 'इकबाल' इस युग के ज्वलंत शायर हैं।

सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा।
हम बुलबुलें हैं इसके, ये गुलिस्तां हमारा।।

'इकबाल' की यह नज्म हर भारतीय की जबान पर थी और आज भी हैं। 'अकबर' के व्यंग भी इतने ही मशहूर हैं। लेकिन एक बात का उल्लेख करना यहां जरूरी हैं कि इन शायरों ने गजलें कम और नज्में अथवा कविताएं ज्यादा लिखीं। और यथार्थ में गजल को सब से पहला धक्का यहीं लगा। कुछ लोगों ने तो यह सोचा कि गजल खत्म की जा रही हैं।

लेकिन गजल की खुशकिस्मती कहिये कि उसकी डगमगाती नाव को 'हसरत', 'जिगर', 'फनी', 'असगर गोंडवी' जैसे महान शायरों ने संभाला, उसे नई और अच्छी दिशा दिखलाई, दोबारा जिंदा किया और उसे फिर से मकबूल किया। 'जिगर' और 'हसरत' ने महबूब को काल्पनिक दुनिया से निकाल कर चलती फिरती दुनिया में ला खडा किया। पुरानी शायरी में महबूब सिर्फ महबूब था, कभी आशिक न बना था। 'हसरत' और 'जिगर' ने महबूब को महबूब तो माना साथ ही उसे एक सर्वांग संपूर्ण इंसान भी बना दिया जिसने दूसरों को चाहा, प्यार किया और दूसरों से भी यही अपेक्षा की।

दोपहर की धूप में मेरे बुलाने के लिये।
वो तेरा कोठे पे नंगे पांव आना याद है।।

-हसरत

गजल का यह रूप लोगों को बहुत भाया। गजल अब सही अर्थ में जवान हुई।

इन शायरों के बाद नई नस्ल के शायरों में फिराक, नुशूर, जज्बी, मजाज, जांनिसार अख्तर, शकील, मजरूह, साहिर, हफीज होशियारपुरी, कतील शिफाई,

इब्ने इंशा, फैज अहमद फैज और अन्य अनेकों का जिक्र किया जा सकता हैं। 'हफीज जालंधरी' और 'जोश मलीहाबादी' के उल्लेख के बगैर उर्दू शायरी की इतिहास अंधूरा रहेगा। यह सच हैं कि इन दोनें शायरों ने कविताएं (नज्में) ज्यादा लिखीं और गजलें कम। लेकिन इनका लिखा हुआ काव्य संग्रह अत्यंत उच्च कोटि का हैं। 'जोश' की एक नज्म, जो दूसरे महायुद्ध के वक्त लिखी गई थी और जिसमें हिटलर की तारीफ की गई थी, अंग्रेजी हुकूमत के द्वारा उनको जेल भिजवाने का कारण बनी।

फैज अहमद फैज का जिक्र अलग से करना अनिवार्य हैं। यह पहले शायर हैं जिन्होंने गजल में राजनीति लाई और साथ-साथ जिंदगी की सर्वसाधारण उलझनों और हकीकतों को बड़ी खूबी और सफाई से पेश किया।

मता-ए-लौहो कलम छिन गई तो क्या गम हैं।
कि खूने दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने।।

जेल की सीखचों के पीछे कैद 'फैज' के आजद कलम का यह नमूना ऊपर लिखी हुई बात को पूर्णतः सिद्ध करता हैं।

गजल का इतिहास रोज लिखा जा रहा हैं। नये शायर गजल के क्षितिज पर रोज उभर रहे हैं, और उभरते रहेंगे। अपने फन से और अपनी शायरी से ये कलाकार गजल की दुनिया को रौशन कर रहे हैं।

कुछ शायरों ने गजल को एक नया मोड़ दिया हैं। इन गजलों में अलामती रूझान यानी सांकेतिक प्रवृत्ति (Symbolic Hint or Suggestion) प्रमुख रूप से होता है। उदाहरण के लिये निम्न अशआर पढ़िये-

वो तो बता रहा था बहोत दूर का सफर।
जंजीर खींच कर जो मुसाफिर उतर गया।।
साहिल की सारी रेत इमारत में लग गई।
अब लोग कैसे अपने घरौंदे बनायेंगे।।
-मिदहतुल अख्तर

इन शायरों में से कुछ शायरों के नाम हम यहां दे रहे हैं। कुंवर महिंदर सिंह बेदी, जिया फतेहआबादी, प्रेम वारबरटनी, मजहर इमाम, अहमद खराज, निदा फाजली, सुदर्शन फाकिर, नासिर काजमी, परदीन शाकिर, अब्दुल हमीद अदम, सूफी तबस्सुम, जरीना सानी, मिदहतुल अख्तर, अब्दुल रहीम नश्तर, प्रो. युनुस खलिश कादरी, जफर कलीम, शाहिद कबीर, प्रो. मंशा, जलील साज, शहरयार, बशीर बद्र, शाज तम्कनत, वहीद अख्तरस महबूब राही, इफ्तिखार इमाम

सिद्दीकी, शबाब ललित, कृष्ण मोहन, याद देहलवी, जहीर गाजीपुरी, यूसूफ जमाल, राज नारायण राज, गोपाल मित्तल, उमर अंसारी, करामत अली करामत, उनवान चिश्ती, मलिक जादा मंजूर, गुलाम रब्बानी ताबां, जज्बी इत्यादि।

गजल लेखन में एक और नया प्रयोग शुरू किया गया हैं जिसका उल्लेख करना यहाँ अनुचित न होगा। इन प्रायोगिक गजलों में शेर की दोनों पंक्तियों से मीटर की पाबंदी हटा दी गई हैं, लेकिन रदीफ और काफियों की पाबंदी रखी गई हैं। इन गजलों को आजाद गजल कहा जाता हैं।

फूल हो, जहर में डूबा हुआ, पत्थर न सही।
दोस्तो मेरा भी कुछ हक तो हैं, छुपकर सही, खुलकर न सही।।
यूं भी जी लेते हैं जीने वाले।
कोई तसवीर सही, आपका पैकर न सही।।
–मजहर इमाम

शक्ल धुंधली–सी हैं, शीशे में निखर जायेगी।
मेरे एहसास की गर्मी से संवर जायेगी।।
आज वो काली घटाओं पे हैं नाजां लेकिन।
चांद सी रोशनी बालों में उतर जायेगी।।
– जरीना सानी

फिलहाल यह गजले प्रारंभिक एवं प्रायोगिक अवस्था में हैं। गजल के रसिया और गजल गायक इन गजलों को पसंद करते हैं या नहीं यह भविष्य ही सिद्ध करेगा। निम्नलिखित शायर 'आजाद गजल' के समर्थक हैं। जहीर गजीपुरी, मजहर इमाम, यूसुफ जमाल, डॉ. जरीना सानी, अलीम सबा नवीदी, मनाजिर आशिक इत्यादि। संगीत को त्रिवेणी संगम कहा जाता हैं। इस संगम में तीन बातें, शब्द, तर्ज और आवाज अत्यंत अनिवार्य हैं। गजल की लोकप्रियता इस बात की पुष्टी करती है कि अच्छे शब्द के साथ अच्छी तर्ज और मधुर आवाज अत्यंत अनिवार्य है।

इसीलिये यह नि:संकोच कहा जा सकता हैं कि गजल को दिलकश संगीत में ढालने वाले संगीतकार और उसे बेहतरीन ढंग से रसिकों के आगे पेश करने वाले कलाकार गायक अगर नहीं होते तो गजल यकीनन किताबों में ही बंद रह कर घुट जाती, सिमट जाती।

स्वरूप

गजल एक ही बहर और वजन के अनुसार लिखे गए शेरों का समूह है। इसके पहले शेर को मतला कहते हैं। गजल के अंतिम शेर को मक्ता कहते हैं। मक्ते में सामान्यतः शायर अपना नाम रखता है। आम तौर पर गजलों में शेरों की विषम संख्या होती है (जैसे तीन, पाँच, सात..)। एक गजल में 5 से लेकर 25 तक शेर हो सकते हैं। ये शेर एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। कभी-कभी एक से अधिक शेर मिलकर अर्थ देते हैं। ऐसे शेर कता बंद कहलाते हैं।

गजल के शेर में तुकांत शब्दों को काफिया कहा जाता है और शेरों में दोहराए जाने वाले शब्दों को रदीफ कहा जाता है। शेर की पंक्ति को मिस्रा कहा जाता है। मतले के दोनों मिस्रों में काफिया आता है और बाद के शेरों की दूसरी पंक्ति में काफिया आता है। रदीफ हमेशा काफिये के बाद आता है। रदीफ और काफिया एक ही शब्द के भाग भी हो सकते हैं और बिना रदीफ का शेर भी हो सकता है जो काफिये पर समाप्त होता हो।

गजल के सबसे अच्छे शेर को शाहे बैत कहा जाता है। गजलों के ऐसे संग्रह को दीवान कहते हैं जिसमें हर हर्फ से कम-से-कम एक गजल अवश्य हो। उर्दू का पहला दीवान शायर कुली कुतुबशाह है।

गजल के प्रकार

तुकांतता के आधार पर गजलें दो प्रकार की होती हैं-

मुअद्दस गजलें- जिन गजल के अशश्आरों में रदीफ और काफिया दोनों का ध्यान रखा जाता है।

मुकफ्फा गजलें- जिन गजल के अशश्आरों में केवल काफिया का ध्यान रखा जाता है।

भाव के आधार पर भी गजलें दो प्रकार की होती हैं-

मुसल्सल गजलें- जिनमें शेर का भावार्थ एक दूसरे से आद्यंत जुड़ा रहता है।

गैर मुसल्सल गजलें- जिनमें हरेक शेर का भाव स्वतंत्र होता है।

इतिहास

अरबी में

गजलों का आरंभ अरबी साहित्य की काव्य विधा के रूप में हुआ। अरबी भाषा में कही गयी गजलें वास्तव में नाम के ही अनुरूप थी अर्थात् उसमें औरतों से बातें या उसके बारे में बातें होती थी।

फारसी में

अरबी से फारसी साहित्य में आकर यह विधा शिल्प के स्तर पर तो अपरिवर्तित रही किंतु कथ्य की दृष्टि से वे उनसे आगे निकल गई। उनमें बात तो दैहिक या भौतिक प्रेम की ही की गई किंतु उसके अर्थ विस्तार द्वारा दैहिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम में बदल दिया गया। अरबी का इश्के मजाजी फारसी में इश्के हकीकी हो गया। फारसी गजल में प्रेमी को सादिक (साधक) और प्रेमिका को माबूद (ब्रह्म) का दर्जा मिल गया। गजल को यह रूप देने में सूफी साधकों की निर्णायक भूमिका रही। सूफी साधना विरह प्रधान साधना है। इसलिए फारसी गजलों में भी संयोग के बजाय वियोग पक्ष को ही प्रधानता मिली।

उर्दू में

फारसी से उर्दू में आने पर भी गजल का शिल्पगत रूप ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया गया लेकिन कथ्य भारतीय हो गया। लेकिन उत्तर भारत की आम अवधारणा के विपरीत हिन्दोस्तानी गजलों का जन्म बहमनी सल्तनत के समय दक्कन में हुआ जहाँ गीतों से प्रभावित गजलें लिखी गयीं। भाषा का नाम रेख्ता (गिरा-पड़ा) पड़ा। वली दकनी, सिराज दाउद आदि इसी प्रथा के शायर थे जिन्होंने एक तरह से अमीर खुसरो (1310 इस्वी) की परंपरा को आगे बढ़ाया। दक्किनी उर्दू के गजलकारों ने अरबी फारसी के बदले भारतीय प्रतीकों, काव्य रूढ़ियों, एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को लेकर रचना की।

उस समय उत्तर भारत में राजकाज की भाषा फारसी थी इसलिए गजल जब उत्तर भारत में आयी तो पुनः उसपर फारसी का प्रभाव बढ़ने लगा। गालिब जैसे उर्दू के श्रेष्ठ गजलकार भी फारसी गजलों को ही महत्वपूर्ण मानते रहे और उर्दू गजल को फारसी के अनुरूप बनाने की कोशिश करते रहे। बाद में दाउद के दौर में फारसी का प्रभाव कुछ कम हुआ। इकबाल की आरंभिक गजलें इसी

प्रकार की है। बाद में राजनीतिक स्थितियों के कारण उर्दू गजलों पर फारसी का प्रभाव पुनः बढ़ने लगा। 1947 के बाद इसमें पुनः कमि आने लगी।

हिंदी में

हिंदी के अनेक रचनाकारों ने इस विधा को अपनाया। जिनमें निराला, शमशेर, बलबीर सिंह रंग, भवानी शंकर, जानकी वल्लभ शास्त्री, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, त्रिलोचन आदि प्रमुख हैं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रसिद्धि दुष्यंत कुमार को मिली।

गजल लेखन

"गजल कहने के लिये हमें कुशल शिल्पी बनना होता है ताकि हम शब्दों को mehrish1-jpg तराश कर उन्हें मूर्त रूप दे सकें, उनकी जड़ता में अर्थपूर्ण प्राणों का संचार कर सकें तथा गजल के प्रत्येक शेर की दो पंक्तियों (मिसरों) में अपने भावों, उद्‌गारों, अनुभूतियों आदि के उमड़ते हुए सैलाब को 'मुट्ठी में आकाश, कठौती में गंगा, कूजे में दरिया, बूँद में सागर के समान समेट कर भर सकें। इसके लिये हमें स्वयं को सक्षम तथा लेखनी को सशक्त बनाना होता है। तब जाकर हम में वह सलीका, वह शऊर, वह सलाहियत, वह योग्यता एवं क्षमता उत्पन्न होती है कि हम ऐसे कलात्मक शेर सृजित करने में समर्थ होते हैं जो "लोकोक्ति" बन जाते हैं, और अक्सर मौकों पर हमारी जबान पर रवाँ (गतिशील) हो जाते हैं।" जैसे:

मैं जिसे ओढ़ता बिछाता हूँ
वो गजल आपको सुनाता हूँ
–दुष्यंत कुमार
कहानी मेरी रूदादे–जहाँ मालूम होती है
जो सुनता है, उसीकी दास्ताँ मालूम होती है
–सीमाब अकबराबादी

इस संबंध में, श्री ज्ञानप्रकाश विवेक, गजल के कला पक्ष को विशेष महत्व देते हुए कहते हैं

"गजल की बुनियादी शर्त उसका शिल्प है। एक अनगढ़ गजल एक अनगढ़ पत्थर की तरह होती है। संगतराश जिस प्रकार छेनी ओर हथोड़ी से पत्थर में जीवंतता ला देता है और तराशे गये पत्थर में उसका एहसास, उसकी

अनुभूतियाँ और उसकी अभिव्यक्ति छुपी होती है, वो सब सजीव सी लगती हैं। इसी प्रकार क तराशी हुई गजल का तराशा हुआ शेर, सिर्फ दो मिसरों का मिलाप नहीं होता, न उक्ति होती है, न सूक्ति, अपितु वह एक आकाश होता है –अनुभूतियों का आकाश! गजल का एक–एक शेर कहानी होता है।" हिंदी में गजल–दुष्यंत के बाद–एक पड़ताल, आरोह गजल अंक से

यूँ तराशा है उनको शिल्पी ने
जान सी पड़ गई शिलाओं में
–देवी
सारा आकाश नाप लेता है
कितनी ऊँची उड़ान है तेरी
–देवी
(ये शेर महरिष जी को बहुत पसंद थे)

शेर को कहने व समझने के बारे में बकौल हजत मुन्नवर लखनवी साहब का शेर प्रस्तुत करते हैं –

शेर कहना यूँ तो मोती है मोती पिरोने का अमल
शेर कहने से भी बहतर है समझना शेर का।

इस फन के कद्रदान हजरत अनवर साबरी के लफ्जों में सुनिये: "गजल को छोटी–छोटी बहरों में ढालना तथा उसमें प्रयुक्त थोड़े–से शब्दों में मन की बात कहना और वह भी सहजता से, यह भी एक कमाल की कला है।"

गजल विधा को कलात्मक बनाने में सुलझी हुई भाषा का बहुत बड़ा हाथ है। जैसा कि पद्मश्री गोपालदास "नीरज" का कहना है: "उर्दू शायरी की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण है भाषा का सही प्रयोग। उर्दू में वाक्यों को तोड़–मरोड़ने बजाय, भाषा को उसके गद्यात्मक अनुशासन के साथ पेश किया जाय तो उसमें रस, अलंकार बरपूत आ जाते हैं"

शायर तो कोई शख्स भी हो सकता है

फनकार मगर बनना बहुत मुश्किल है। बकौल डॉ. अल्लामी(रुबाई की अंतिम दो पंक्तियाँ)

अपने नये गजल संग्रह चरागे दिल में देवी नागरानी गजल के विषय में क्या कहती है:

"कुछ खुशी की किरणें, कुछ पिघलता दर्द आँख की पोर से बहता हुआ, कुछ शबनमी–सी ताजगी अहसासों में, तो कभी भँवर गुफा की गहराइयों से उठती

उस गूँज को सुनने की तड़प मन में जब जाग उठती है तब कला का जन्म होता है। सोच की भाषा बोलने लगती है, चलने लगती है, कभी-कभी तो चीखने भी लगती है। यह कविता बस और कुछ नहीं, केवल मन के भाव प्रकट करने का माध्यम है, जिन्हें शब्दों का लिबास पहना कर एक आकृति तैयार करते हैं, वो हमारी सोच की उपज होती है फिर चाहे रुबाई हो या कोई लेख, गीत हो या गजल।"

और आगे बढ़ते हुए महर्षि जी कहते हैं गजल उर्दू के अतिरिक्त हिंदी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, कशमीरी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, सिंधी तथा भारत की अन्य कुछ भाषाओं में लिखी जाती है। जरा मुलाइजा फरमाएँ कि "प्रोत्साहन" त्रैमासिक के प्रधान संपादक श्री जीवतराम सेतपाल अपने सम्पादकीय में गजल के बारे में क्या कहते हैं:

"सुकुमार जूही की कली की भांति, मोंगरे की मदमाती सुगंध लेकर, गुलाबी अंगड़ाई लेती हुई, पदार्पण करने वाली गजल, भारतीय वांग्मय की काव्य विधा के उपवन में रात की रानी बन बैठी। अरबी साहित्य से निस्सृत, फारसी भाषा में समादृत, उर्दू में जवान होकर, अपनी तरुणाई की छटा बिखेरने और हिंदी साहित्य के महासागर में सन्तरण करने आ गई है गजल। कम शब्दों में गंभीरता पूर्वक बड़ी से बड़ी बात को भी, नियमों में बाँधकर बड़ी सफलता और सहजता से दोहों की भाँति गहराई से कह देने में समर्थ, गेय, अत्याधिक लयात्मक, काव्य विधा का मखमली अंग है गजल।"

हरियाणा के श्री निशांतकेतु एक जगह लिखते है- "शायरी एक मखमली चादर जैसी होती है, जिसे शाइर अपनी साँसों से बुनता है, जिस्म और रूह के बीच दिल की धड़कनों से सुनता है।"

प्रो. रामचन्द्र के शब्दों में "जब तक गजलकार अपने शेरों में सामूहिक सच्चाइयों के व्यक्तिगत भोग को आत्मसात कर, प्रस्तुत नहीं करता, तब तक उसके काफिये और रदीफ चाहे जितने सुंदर क्यों न हो, उसके शेर उसकी गजल का सही अस्तित्त्व खड़ा नहीं कर सकता। गजलकार के अनुभव जब पाठकों के भागीदार बनते हैं तब जाकर गजल की जान सामने आती है।"

गजल के परिचय से वाकिफ कराते हुए आगे महरिष जी कहते हैं - "अच्छी गजल के प्रत्येक शेर का पहला मिसरा कुछ इस प्रकार कहा जाता है कि श्रोता दूसरे मिसरे को सुनने के लिये उत्कंठित हो जाता है, और उसे सुनते ही चमत्कृत तथा आनन्द विभोर हो उठता है। "गजल" के विचार काफियों

(तुकांत शब्दों) के इर्द गिर्द घूमते हैं। काफिया शेर का चर्मोत्कर्ष है, जिस पर आते ही और निहितार्थ या व्यंगार्थ को समझते ही श्रोता अथवा पाठक चमत्कृत एवं विमुग्ध हो उठते हैं। वास्तविकता यह है कि कथ्य और शिल्प के सुंदर तालमेल से ही एक सही गजल जन्म लेती है। " श्री दीक्षित दनकौरी द्वारा संपादित "गजल दुष्यंत के बाद" में लिखे महरिष जी के कुछ अंश है ये। अंत में स्वरचित गजल की कुछ पँक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

फूल खिले, गुंजार हुई है
एक गजल साकार हुई है
झनके है शब्दों के नुपुर
अर्थ-भरी झंकार हुई है।
मन की कोई अनुभूति अचानक
रचना का आधार हुई है
बात कभी शबनम सी "महरिष"
और कभी अंगार हुई है।
(गजल लेखन कला से)
कितना सत्य है उनके कहे इस शेर में
वो अल्फाज मुँह बोले ढूँढती है
गजल जिन्दादिल काफिए ढूँढती है।

7

शायरी

शायरी, शेर-ओ-शायरी या सुखन भारतीय उपमहाद्वीप में प्रचलित एक कविता का रूप हैं जिसमें उर्दू-हिन्दी भाषाओं में कविताएँ लिखी जाती हैं। शायरी में संस्कृत, फारसी, अरबी और तुर्की भाषाओं के मूल शब्दों का मिश्रित प्रयोग किया जाता है। शायरी लिखने वाले को शायर या सुखनवर कहा जाता है।

लेखक द्वारा मात्र दो लाइन में अपनी बात पूरी कह देना शेर या शायरी कहलाता है। जो शेर पढ़ता है उसे शायर कहते हैं। उदाहरण-

प्यार कुछ इस तरह जताया उसने
उसके सिवा अकेला हूँ जता दिया उसने। (शंतनू)

ऊपर शायर ने अपनी बात दो लाइन में ही पूरी कह दी है, अब कुछ कहने को शेष बचता ही नहीं है। अतः उपरोक्त उदाहरण शेर है। अब कुछ अन्य शेर देखिये और समझने की कोशिश करिए-

हमको उनसे वफा कि है उम्मीद
जो नहीं जानते वफा क्या है। (गालिब)
इस तरह की जीत से तो हार भली
मित्रता में खंजर से तलवार भली। (वशिष्ठ)
इस नदी के धार में ठंडी हवा आती तो है,
नाव जर्जर ही सही, लहरों से टकराती तो है। (दुष्यंत)
मेरा कोई नहीं तबीब, अब खुदा के सिवा,
करेंगे और ये क्या डाक्टर दवा के सिवा। (बिस्मिल इलाहबादी)

शायरी कैसे लिखते है?

शेर लिखने का सबसे सरल तरीका यह है, कि जो आपके मन में सबसे पहले भाव आए उसे प्रथम पंक्ति में लिख दीजिये। उदाहरण के तौर पर मैंने लिखा–

कोई नहीं किसी का, किसे किसकी पड़ी है

अब मुझे अगली पंक्ति में अपनी बात पूरी करनी है, यदि हो सकें तो तुकांत (शेर के अंतिम शब्द समान) मिलाने का भी प्रयत्न करना है। तो मेंने अगली लाइन लिख दी "सब कुछ होता देखे, दुनिया बेजान खड़ी है"। तो शेर कुछ इस प्रकार हुआः–

कोई नहीं किसी का, किसे किसकी पड़ी है सब कुछ होता देखे, दुनिया बेजान खड़ी है। (वशिष्ठ)

विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण देखिए– मैंने प्रथम पंक्ति लिखी "जो दोस्त बनाये वो छूटते रहे"। दोस्त छूटने की कोई तो वजह होगी? यहाँ वजह नाराजगी, शिकायत है तो मैंने छूटते रहे का तुक मिलाने के लिए रूठते रहे का प्रयोग किया। तो कुछ ऐसी सरंचना हुई–

जो दोस्त बनाये वो छूटते रहे,

..... वो रूठते रहे।

अभी शेर के दूसरे लाइन का प्रथम हिस्सा लिखना शेष है। इस हिस्से में तुक मिलाने की जरूरत नहीं है, मगर कुछ ऐसा लिखना है, जिससे कि दूसरी लाइन पूरी की जा सकें और उसका कुछ अर्थ निकले। तो मैंने "हम मनाते रहे" लिख दिया। तो शेर कुछ इस प्रकार हुआ–

जो दोस्त बनाये वो छूटते रहे

हम मनाते रहे वो रूठते रहे। (वशिष्ठ)

प्रारम्भ में आपको शेर लिखने में कुछ कठिनाई का अनुभव हो सकता है, मगर जब आप इस तरीके को 2–4 बार अमल में लाएँगे, तो आपको आसान लगने लगेगा और आप भी स्वयं अच्छी शायरी लिखने में सक्षम हो जाएंगे।

यदि आपके मन में आज के इस लेख से संबन्धित कोई सवाल है तो कॉमेंट में अवश्य लिखें। एक अन्य बात अभी शेर विषय पर कुछ एक दो चीजें लिखना शेष है, जिन्हे विषय के जटिल होने के भय से इस पोस्ट में स्थान नहीं दिया गया है। शीघ्र ही उन विषयों पर नवीन पोस्ट लिखा जाएगा या पोस्ट अपडेट कर दिया जाएगा।

आम प्रयोग में

भारतीय उपमहाद्वीप की संस्कृति में ऐसा होता आया है कि अगर कोई शेर लोकप्रिय हो जाए तो वह लोक-संस्कृति में एक सूत्रवाक्य की तरह शामिल हो जाता है, उदाहरण के लिए।

इब्तेदा-ए-इश्क है, रोता है क्या - इसकी दूसरी पंक्ति है, 'आगे-आगे देखिये होता है क्या'। यह अक्सर किसी मुश्किल काम (जिसमें प्रेम-प्रयास भी है) के करते समय कहा जाता है। इसका अर्थ है कि 'अभी तो मुश्किल काम शुरू हुआ है, अभी और कठिनाई आएगी, अभी से क्या रोना?'

खुदी को कर बुलन्द इतना - यह इकबाल का शेर है जिसके आगे का भाग है 'के हर तकदीर से पहले, खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है'। इसका अर्थ है कि 'इतने लायक बनो कि जीवन के हर मोड़ पर भगवान तुम्हारा भाग्य लिखते हुए तुम्ही से तुम्हारी जो मर्जी हो पूछ कर लिख दे'।

खाक हो जाएँगे हम तुम को खबर होने तक - इसका पहला जुमला है 'हमने माना के तगाफुल न करोगे लेकिन'। इसमें प्रेमी अपनी प्रेमिका से कह रहा है कि वह जानता है कि उसकी व्याकुलता के बारे में सुनकर वो बिना विलम्ब (तगाफुल) किये आ जाएगी, लेकिन डर यह है कि उसका दु:ख इतना भारी है कि वह प्रेमिका को खबर मिलने से पहले ही मर जाएगा'। यह भारतीय संसद में एक सांसद ने भूतपूर्व प्रधान मंत्री नरसिंहराव से अपने क्षेत्र के लिए मदद मांगते हुए कहा था। नरसिंहराव का उत्तर था- ' घबराइये नहीं! हम आपको खाक नहीं होने देंगे।'

और भी गम हैं जमाने में - यह फैज अहमद फैज के एक शेर का हिस्सा है, पूरा शेर है। 'मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरे महबूब न मांग और भी दुख हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा'। इसका अर्थ है कि दुनिया में इतनी मुश्किलें-तकलीफें हैं कि आदमी हर समय आनंद देने वाली चीजों पर ध्यान नहीं दे सकता।

तुम्हें याद हो के न याद हो - इसका पूरा शेर है 'वो जो हम में तुम में करार था, तुम्हें याद हो के न याद हो' और इसी गजल का एक और अंश है 'मुझे सब है याद जरा-जरा, तुम्हें याद हो के न याद हो'। यह ऐसे दोस्तों-प्रेमियों को शर्मिंदा करने के लिए कहा जाता है जो किसी के साथ अपना पुराना सम्बन्ध भूल गए हों।

शायरी से सम्बन्धित शब्द

शेर-ओ-शायरी के सम्बन्ध में कुछ शब्द भारतीय उपमहाद्वीप और ईरान में प्रचलित हैं, मसलन (उदाहरणार्थ)–

जुमला – यह 'पंक्ति' का एक अन्य नाम है, उदाहरण के लिए 'बाजीचा-ए-अतफाल है दुनिया मेरे आगे' एक जुमला है (अर्थ 'मेरे लिए दुनिया एक बच्चों का खेलबाजी है')।

मिसरा – शेर की पंक्तियों/जुमलों के लिए यह भी एक नाम है।

शेर – यह दो जुमलों (पंक्तियों) से बना कविता का एक अंश होता है जो एक-साथ मिलकर को भाव या अर्थ देती हैं, उदाहरण के लिए 'बाजीचा-ए-अतफाल है दुनिया मेरे आगे, होता है शब-ओ-रोज तमाशा मेरे आगे' दो जुमलों का एक शेर है (अर्थ 'दुनिया मेरे लिए बच्चों का खेल है, रात-दिन यही तमाशा देखता हूँ')।

मतला – किसी गजल के पहले शेर को मतला कहते हैं।

मकता – किसी गजल के अंतिम शेर को मकता कहते हैं और शायर कोशिश करते हैं कि यह शेर सब से ज्यादा भावुक और प्रभावशाली हो, इसीलिए कोई गजल अंत करते हुए शायर अक्सर कहते हैं 'मकता अर्ज है' (यानि, 'ध्यान दीजिये, गजल का अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण शेर पढ़ने वाला हूँ/)।

बैतत – गजल के शेर को अक्सर बैत भी कहते हैं और अक्सर यह शब्द किसी गजल के पहले शेर के लिए प्रयोग होता है जिसमें दोनों जुमलों कि तुकबंदी होना अनिवार्य है, जैसे कि 'तुम भी खफा हो लोग भी बरहम हैं दोस्तों, अब हो चला यकीन है बुरे हम हैं दोस्तों' ('बरहम' यानि 'परेशान')।

फर्द – गजल के पहले शेर के बाद वाले शेर, जिनमें जुमलों में तुकबंदी करना आवश्यक नहीं है, जैसे कि 'अपने सिवा हमारे न होने का गम किसे, अपनी तलाश में तो हमीं-हम हैं दोस्तों।

कसीदा – किसी की प्रशंसा के लिए लिखी गई कविता को कसीदा कहते हैं, पुराने जमाने में कवियों का गुजारा किसी राजा-महाराजा के दरबार से जुड़े होने से चला करता था और उनके लिए उस राजा की प्रशंसा में कसीदे लिखना जरूरी हुआ करता था।

तखल्लुस या तकिया कलाम – यह शायर का अपने लिए चुना हुआ नाम होता है जो अक्सर गजल के अंतिम शेर (मकते) में शामिल कर लिया जाता

है, ठीक वैसे जैसे कोई चित्रकार अपने बनाए चित्र पर अपना नाम दर्ज कर देता है, उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के शहर बाराबंकी के मुहम्मद हैदर खान के अपना तखल्लुस 'खुमार बाराबंकवी' रखा हुआ था और यह उनकी गजलों के मक्तों में देखा जा सकता है, मसलन 'खुमार-ए-बलानोश्त, तू और तौबा? तुझे जाहिदों की नजर लग गई है' (अर्थ शराब पीने (नोश) करने वाले खुमार, तूने शराब से तौबा कर ली? जरूर तुझे तेरी मस्ती से जलने वाले मौलवियों (जाहिदों) की नजर लग गई है')

8

गीति काव्य एवं गीत

गीतिकाव्य वो शब्द होते हैं जो गीत या काव्य रचना को बनाते हैं। गीतिकाव्य लिखने वाले गीतकार होते हैं। विशेषकर संगीत के साथ निर्मित किये गए गीत के शब्दों को बोल भी कहते हैं। ऐसा भारतीय परिप्रेक्ष्य में सिनेमा में बहुत आम है। इसमें बनाई गई फिल्मों में अक्सर सामान्यत: 3-4 गीत ('गाना' भी कहा जाता है) होते हैं जिन्हें संगीत में ढालकर निर्मित किया जाता हैं। इसके लिये विशेष तौर पर गीतकारों की सेवा ली जाती है और उन्हें बड़े सम्मान के साथ देखा जाता है।

इतिहास

प्राचीन समय में जिस गान में सार्थक शब्दों के स्थान पर निरर्थक या शुष्काक्षरों का प्रयोग होता था वह निर्गीत या बहिर्गीत कहलाता था। तनोम, तननन या दाड़ा दिड़ दिड़ या दिग्ले झंटुं झंटुं इत्यादि निरर्थक अक्षरवला गान निर्गीत कहलाता था। आजकल का तराना निर्गीत की कोटि में आएगा।

भरत के समय में गीति के आधारभूत नियत पदसमूह को ध्रुवा कहते थे। नाटक में प्रयोग के अवसरों में भेद होने के कारण पाँच प्रकार के ध्रुवा होते थे- प्रावंशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासदिकी और अंतरा।

स्वर और ताल में जो बँधे हुए गीत होते थे वे लगभग 9वीं 10वीं सदी से प्रबंध कहलाने लगे। प्रबंध का प्रथम भाग, जिससे गीत का प्रारंभ होता था, उद्ग्राह कहलाता था, यह गीत का वह अंश होता था जिसे बार-बार दुहराते थे

और जो छोड़ा नहीं जा सकता था। ध्रुव शब्द का अर्थ ही है 'निश्चित, स्थिर'। इस भाग को आजकल की भाषा में टेक कहते हैं।

अंतिम भाग को 'आभोग' कहते थे। कभी-कभी ध्रुव और आभोग के बीच में भी पद होता था जिसे अंतरा कहते थे। अंतरा का पद प्राय: 'सालगसूड' नामक प्रबंध में ही होता था। जयदेव का गीतगोविंद प्रबंध में लिखा गया है। प्रबंध कई प्रकार के होते थे जिनमें थोड़ा-थोड़ा भेद होता था। प्रबंध गीत का प्रचार लगभग चार सौ वर्ष तक रहा। अब भी कुछ मंदिरों में कभी-कभी पुराने प्रबंध सुनने को मिल जाते हैं।

प्रबंध के अनंतर ध्रुवपद गीत का काल आया। यह प्रबंध का ही रूपांतर है। ध्रुवपद में उद्ग्राह के स्थान पर पहला पद स्थायी कहलाया। इसमें स्थायी का ही एक टुकड़ा बार-बार दुहराया जाता है। दूसरे पद को अंतरा कहते हैं, तीसरे को संचारी और चौथे को आभोग। कभी-कभी दो या तीन ही पद के ध्रुवपद मिलते हैं। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (15वीं सदी) के द्वारा ध्रुवपद को बहुत प्रोत्साहन मिला। तानसेन ध्रुवपद के ही गायक थे। ध्रुवपद प्राय: चौताल, आड़ा चौताल, सूलफाक, तीव्रा, रूपक इत्यादि तालों में गाया जाता है। धमार ताल में अधिकतर होरी गाई जाती है।

14वीं सदी में अमीर खुसरो ने खयाल या ख्याल गायकी का प्रारंभ किया। 15वीं सदी में जौनपुर के शर्की राजाओं के समय में खयाल की गायकी पनपी, किंतु 18वीं सदी में यह मुहम्मदशाह के काल में पुष्पित हुई। इनके दरबार के दो गायक अदारंग और सदारंग ने सैकड़ों खयालों की रचना की। खयाल में दो ही तुक होते हैं-स्थायी और अंतरा। खयाल अधिकतर एकताल, आड़ा चैताल, झूमरा और तिलवाड़ा में गाया जाता है। इसको अलाप, तान, बालतान, लयबाँट इत्यादि से सजाते हैं। आजकल यह गायकी बहुत लोकप्रिय है।

ठुमरी

ठुमरी में अधिकतरशृंगार के पद होते हैं। यह पंजाबी ठेका, दीपचंदी इत्यादि तालों में गाई जाती है। ठुमरी दो प्रकार की होती है-एक बोल आलाप की ठुमरी और दूसरी बोल बाँट की ठुमरी। पहले प्रकार की ठुमरी में बोल या कविता की प्रधानता होती है। स्वर द्वारा बोल के भाव व्यक्त किए जाते हैं। बोल बाँट ठुमरी में लय की काँट-छाँट का अधिक काम रहता है।

दादरा

दादरा गीत अधिकतर दादरा ताल में गाया जाता है। कभी-कभी यह कहरवा ताल में भी गाया जाता है। इसमें भी स्थायी और अंतरा ये दो ही तुक होते हैं। टप्पा अधिकतर पंजाबी भाषा में मिलता है। इसमें भी स्थायी और अंतरा दो तुक होते हैं। इसकी तानें द्रुत लय में होती हैं और एक विचित्र कंप के साथ चलती हैं। गिटकिरी और जमजमा टप्पे की विशेषता है।

चतुरंग गीत में, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, चार अंग होते हैं-

(1) बोल या साहित्य, (2) तर्राना, (3) सरगम, (4) मृदंग या तबले के बोल।

साक्षर सरगम या सार्थ सरगम

इस गीत में 'षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद इनके प्रथम सांकेतिक अक्षर स, रे, ग, म प, ध, नि, इस प्रकार से बाँधे जाते हैं कि इनका कुछ अर्थ भी निकलता है। जिस राग का सरगम होता है उसी राग के स्वर प्रयुक्त होते हैं।

सरगम अथवा स्वरावर्त अथवा स्वरसाहित्य अथवा स्वरमालिका

इस प्रकार के गीत में किसी विशिष्ट राग का सरगम ताल में निबद्ध होता है। इसमें केवल स्वर की बंदिश होती है। उसका कोई अर्थ नहीं होता। तर्राना या तिल्लाना-इसमें त नोम तनन तदेर दानि इत्यादि अक्षर किसी विशिष्ट राग या ताल में निबद्ध होते हैं। कभी-कभी इसमें मृदंग या तबले के बोल भी होते हैं। अथवा फारसी या संस्कृत का कोई पद भी संमिलित कर लिया जाता है इस प्रकार के गीत को हिंदुस्तानी संगीत में प्राय: तर्राना कहते हैं और कर्णाटक संगीत में तिल्लाना।

सादरा

ध्रुवपद अंग से जो गीत मध्य या द्रुत लय में झपताल में गाया जाता है उस 'सादरा' कहते हैं।

रागमलिका या रागमाला या रागसागर

एक ही गीत के भिन्न-भिन्न पद या अंश जब भिन्न-भिन्न रागों में बंधे होते हैं तो उसे रागमलिका या रागमाला कहते हैं। हिंदुस्तानी संगीत में इसे प्राय:

रागसागर कहते हैं। इसमें प्राय: भिन्न-भिन्न रागा के नाम भी आ जाते हैं। बंदिश इस प्रकार होनी चाहिए कि गीत भिन्न-भिन्न अंशों का समुच्चय मात्र न जान पड़े, किंतु वे परस्पर संहत या सश्लिष्ट हों जिससे सारे गीत से एक भाव या अर्थ सूचित होता हो।

कीर्तन और कृति

इस प्रकार के गीत कर्णाटक संगीत में होते हैं। इसके प्रथम भाग को पल्लवी कहते हैं जो हिंदुस्तानी संगीत के स्थायी जैसा होता है, द्वितीय भाग को अनुपल्लवी कहते हैं जो हिंदुस्तानी संगीत के अंतरा जैसा होता है। अन्य भाग या पद चरणम् कहलाते हैं। कृति में भिन्न-भिन्न स्वरसंगतियाँ आती हैं जबकि कीर्तन सीधा सादा होता है। त्यागराज ने बहुत सी कृतियों की रचना की। इस प्रकार के गीतों के और प्रसिद्ध रचयिता 'याम शास्त्री और मुथुस्वामी दीक्षितार हुए। दीक्षितार की रचनाएँ ध्रुवपद से मिलती-जुलती हैं।

बंगाल के कीर्तन प्रबंध और ध्रुवपद के आधार पर बँधे हुए होते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी तालों का प्रयोग होता है जो हिंदुस्तानी संगीत में अन्यत्र नहीं मिलते, जैसे दोटुकी, लोफा, दासप्यारी, दशकुशि, चंपूपुट इत्यादि। बंगाल के कीर्तन के साथ खोल बजता है। यह एक प्रकार का नाटकीय गीत है। गीत श्रीकृष्ण और राधा से संबद्ध होते हैं और उनमें रूपानुराग, अभिसार, मिलन, आत्मनिवेदन इत्यादि का वर्णन होता है।

महाराष्ट्र में कीर्तनगान द्वारा कथा कही जाती है और भजन गाए जाते हैं। भक्तों के पद, जो त्रिताल, दादरा, कहरवा इत्यादि सरल ताली में बँधे होते हैं, भजन कहलाते है। कर्णाटक शैली में पद्म गीत बिलंबित लय में बँधा होता है। इसमेंशृंगार रस प्रधान होता है। यह प्राय: नृत्य के साथ गाया जाता है। जावड़ि गीत भी कर्णाटक में ही प्रचलित है। इसमें भीशृंगार रस ही प्रधान होता है, किंतु इसकी लय पद्म की लय की अपेक्षा द्रुत और चंचल होती है।

लोकगीत

लोकगीत लोक के गीत हैं, जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है। सामान्यत: लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है। लोकगीतों का रचनाकार अपने व्यक्तित्त्व को लोक समर्पित कर देता है। शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह

न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता हैं, वही लोकगीत है।

इस प्रकार लोकगीत शब्द का अर्थ है-

1. लोक में प्रचलित गीत
2. लोक-रचित गीत
3. लोक-विषयक गीत

कजरी, सोहर, चैती, लंगुरिया आदि लोकगीतों की प्रसिद्ध शैलियाँ हैं।

संस्कार गीत

बालक-बालिकाओं के जन्मोत्सव, मुण्डन, पूजन, जनेऊ, विवाह, आदि अवसरों पर गाये जाने वाले संस्कार गीत हैं - सोहर, खेलौनो, कोहबर, समुझ बनी, आदि।

गाथा-गीत लोकगाथा

विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित विविध लोकगाथाओं पर आधारित इन गाथा-गीतों को निम्न श्रेणियों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है -

आल्हा-

ढोला-

भरथरी -

नरसी भगत-

घन्नइया-

लोरिकायन - वीर रस से परिपूर्ण इस लोकगाथा में गायक लोरिक के जीवन-प्रसंगों का जिस भाव से वर्णन करता है, वह देखते-सुनते ही बनता है।

नयका बंजारा - विभिन्न क्षेत्रों में गाये जाने वाले लोक गीतों में प्राय: विषय-वस्तु तो एक ही होती है, किन्तु स्थान, पात्र तथा चरित्रों में विविधता के दर्शन होते हैं।

विजमैल - राजा विजयमल की वीरता का बखान करने वाली इस लोकगाथा में बढ़ा-चढ़ाकर प्रचलित गाथा का वर्णन किया जाता है।

सलहेस - एक लोककथा के अनुसार, सलहेस, दौना नामक एक मालिन का प्रेमी था। उसके एक शत्रु ने ईर्ष्यावश सलहेस को चोरी के झूठे आरोप में बन्द बनवा दिया। दौना मालिन ने अपने प्रेमी सलहेस को किस प्रकार मुक्त कराया। बस इसी प्रकरण को इस लोक-गीत में भाव-विभोर होकर गाया जाता है।

दीना भदरी – इस लोक–गीत में दीना तथा भदरी नामक दो भाइयों के वीरता का वर्णन मार्मिकता से गाया जाता है। इसके साथ ही राज्य के विभिन्न अंचलों में आल्हा–ऊदल, लाला हरदौल बुंदेला, राजा ढोलन सिंह, छतरी चौहान, नूनाचार, लुकेसरी देवी, कालिदास, मनसाराम, छेछनमल, लाल महाराज, गरबी दयाल सिंह, मीरायन, हिरनी–बिरनी, कुंअर बृजभार, राजा विक्रमादित्य, बिहुला, गोपीचन्द, अमर सिंह, बरिया, राजा हरिश्चन्द्र, कारू खिर हैर, मैनावती आदि के जीवन एवं उनकी वीरता भरी गाथाओं को राज्य के गाथा–गीतों के रूप में गाया जाता है।

पर्वगीत

राज्य में विशेष पर्वों एवं त्योहारों पर गाये जाने वाले मांगलिक–गीतों को 'पर्वगीत' कहा जाता है। होली, दीपावली, छठ, तीज, जिउतिया, बहुरा, पीड़िया, गो–घन, रामनवमी, जन्माष्टमी, तथा अन्य शुभअवसरों पर गाये जाने वाले गीतों में प्रमुखतः शब्द, लय एवं गीतों में भारी समानता होती है।

बारहमासा

प्रथम मास असाढि सखि हो, गरज–गरज के सुनाय। सामी के अईसन कठिन जियरा, मास असाढ़ नहि आय सावन रिमझिम बुनवा बरिसे, पियवा भिजेला परदेस। पिया पिया कहि रटेले कामिनि, जंगल बोलेला मोर भादो रइनी भयावन सखि हो, चारु ओर बरसेला धार। चकवी त चारु ओर मोर बोले दादुर सबद सुनाई कुवार ए सखि कुँवर बिदेश गईले, तीनि निसान। सीर सेनुर, नयन काजर, जोबन जी के काल कातिक ए सखी कतकि लगतु है, सब सखि गंगा नहाय। सब सखी पहिने पाट पीतम्बर, हम धनि लुगरी पुरान अगहन ए सखी गवना करवले, तब सामी गईले परदेस। जब से गईले सखि चिठियो ना भेजले, तनिको खबरियो ना लेस पुस ए सखि फसे फुसारे गईले, हम धनि बानि अकेली। सुन मन्दिलबा रतियो ना बीते, कब दोनि होईहे बिहान माघ ए सखि जाडा लगतु है, हरि बिनु जाड़ो न जाई। हरि मोरा रहिते त गोद में सोबइते, असर ना करिते जाड़ फागुन ए सखि फगुआ मचतु है, सब सखि खेलत फाग। खेलत होली लोग करेला बोली, दगधत सकल शरीर चौत मास उदास सखि हो एहि मासे हरि मोरे जाई। हम अभागिनि कालिनि साँपिनि, अवेला समय बिताय बइसाख ए सखि उखम लागे, तन में से ढुरेला नीर का कहों आहि जोगनिया के, हरिजी के राखे

ले लोभाई जेठ मास सखि लुक लागे सर सर चलेला समीर। अबहुँ ना सामी घरवा गवटेला, ओकरा अंखियो ना नीर

पेशा गीत

राज्य में विभिन्न पेशे के लोग अपना कार्य करते समय जो गीत गाते जाते हैं उन्हें 'पेशा गीत' कहते हैं। उदाहरणार्थ – गेहूं पीसते समय 'जाँत–पिसाई', छत की ढलाई करते समय 'थपाई' तथा छप्पर छाते समय 'छवाई' और इनके साथ ही विभिन्न व्यावसायिक कार्य करते समय 'सोहनी, 'रोपनी', आदि गीत गाते–गाते कार्य करते रहने का प्रचलन है।

जातीय गीत

समाज के विभिन्न क्षेत्रों की विविध जातियाँ मनोनुकूल अपने ही गीत गाती हैं, जिन्हें 'जातीय गीत' कहते हैं। श्रोतागण उन्हें सुनकर अनुमान कर लेते हैं। कि गायक–गायिका किस जाति विशेष से सम्बन्धित हैं।

उक्त लोक गीतों के साथ ही बिहार में समय–समय पर और विशेषकर संघयाकाल समय भोजनोपरान्त सांझापराती, झूमर, बिरहा, प्रभाती, निर्गुण, देवी–देवताओं के गीत गाने का प्रचलन है।

प्रमुख लोक गायक

पद्मश्री शारदा सिन्हा, विजया भारती, मनोज तिवारी, मालिनी अवस्थी, देशराज पटेरिया जित्तू खरे, जयसिंह राजा, बब्बू राजा बुंदेला, प्रहलाद सिह टिपानिया, तारासिह डोडवे, जण्टू सिंह, बांकेलाल, डॉ. शंकर प्रसाद, मोतीलाल 'मंजुल', विंघयवासिनी देवी, नन्द किशोर प्रसाद, कमला देवी, केसरी नन्दन भगत, कुमुद अखौरी, ग्रेस कुजूर, विष्णु प्रसाद सिन्हा, ब्रज किशोर दुबे, भरत सिंह भारती, संतराज सिंह 'रागेश', योगेन्द्र सिंह अलबेला, अजित कुमार अकेला, भरत शर्मा व्यास, शम्भूराम, कविता चौघरी, उमाकान्त कमल, ललिका झा, उर्वशी, रेणुका अजीत अकेला, नीतू कुमारी नवगीत, सत्येंद्र कुमार संगीत, नीतू कुमारी नूतन, मनोरंजन ओझा, चंदन तिवारी, पंकज सखा, अनु दुबे, रामकिशोर त्रिपाठी, बघेली लोकगीत गायक–भोपाल आदि लोक गायक हैं।

कविता वासनिक, पद्मश्री ममता चंद्राकर, पद्मविभूषण तीजनबाई, ने भी लोकगीतों को अपना स्वर दिया है।

9

दोहा

दोहा मात्रिक अर्द्धसम छंद है। दोहे के चार चरण होते हैं। इसके विषम चरणों (प्रथम तथा तृतीय) में 13-13 मात्राएँ और सम चरणों (द्वितीय तथा चतुर्थ) में 11-11 मात्राएँ होती हैं। 'दोहा' या 'दूहा' की उत्पत्ति कतिपय लेखकों ने संस्कृत के दोधक से मानी है। 'प्राकृतपैगलम्' के टीकाकारों ने इसका मूल 'द्विपदा' शब्द को बताया है। यह उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रमुख छन्द है।

दोहा अर्द्धसम मात्रिक छंद है। यह दो पंक्ति का होता है इसमें चार चरण माने जाते हैं। इसके विषम चरणों (प्रथम तथा तृतीय) में 13-13 मात्राएँ और सम चरणों (द्वितीय तथा चतुर्थ) में 11-11 मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के आदि में प्राय: जगण (।*।) टालते हैं, लेकिन इस की आवश्यकता नहीं है। 'बड़ा हुआ तो' पंक्ति का आरम्भ ज-गण से ही होता है। सम चरणों के अंत में एक गुरु और एक लघु मात्रा का होना आवश्यक होता है अर्थात् अन्त में लघु होता है।

उदाहरण-

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागैं अति दूर॥
मुरली वाले मोहना, मुरली नेक बजाय।
तेरी मुरली मन हरे, घर अँगना न सुहाय।

हेमचन्द्र के मतानुसार दोहा-छन्द के लक्षण हैं - समे द्वादश ओजे चतुर्दश दोहकरू समपाद के अन्तिम स्थान पर स्थित लघु वर्ण को हेमचन्द्र गुरु-वर्ण का मापन देता है। 'अत्र समपादान्ते गुरुद्वयमित्याम्नायरू' यह सूत्र विषद किया है।

मम तावन्मतमेतदिह – किमपि यदस्ति तदस्तु रमणीभ्यो रमणीयतरमन्यत् किमपि न अस्तु

उत्पत्ति

दोहा वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ। प्राचीन अपभ्रंश में इस छन्द का प्रयोग कम मिलता है, तथापि सिद्ध कवि सरहपा ने इसका सबसे पहले प्रयोग किया। एक मतानुसार 'विक्रमोर्वशीय' में इसका सबसे प्राचीन रूप उपलब्ध है। फिर भी पाँचवीं या छठी शताब्दी के पश्चात् दोहा काफी प्रयोग में आता रहा। हाल की सतसई से भी इसका सूत्र जोड़ा जाता है। यह तर्क प्रबल रूप से प्रस्तुत किया जाता है कि कदाचित यह लोक-प्रचलित छन्द रहा होगा। दोहा दो पंक्तियों का छन्द है। 'बड़ो दूहो', 'तूँवेरी दूहो' तथा 'अनमेल दूहो', तीन प्रकार राजस्थानी में और मिलते हैं। प्राचीन दोहा के पहले और तीसरे चरण में 13-13 मात्राएँ तथा दूसरे और चौथे में 11-11 मात्राएँ होती हैं। 'बड़ो दूहो' में 1 और 4 चरण 11-11 मात्राओं के तथा 2 और 3 चरण 13-13 मात्राओं के होते हैं। 'तूँवेरी दूहो' में मात्राओं का यह क्रम उल्टा है। पहले और चौथे चरण की तुक मिलने से 'मध्यमेल दूहो' बनते हैं। दोहा लोकसाहित्य का सबसे सरलतम छन्द है, जिसे साहित्य में यश प्राप्त हो सका।

समानार्थक

दोहा और साखी समानार्थक हैं। सम्भवतः बौद्ध सिद्धों को इस शब्द ज्ञान था। साखि करब जालन्धर पाएँ पंक्ति में जालन्धर पाद को साक्षी करने का उल्लेख आया है। गोरखपन्थियों से प्रभावित होकर यह शब्द कबीरपन्थियों की रचनाओं में आया और बाद के साहित्य में दूहे का अर्थ भी 'साखी' ग्रहण किया गया।

रचना

'प्राकृतपैगलम्' के अनुसार इस छन्द के प्रथम तथा तृतीय पाद में 13-13 मात्राएँ और दूसरे तथा चौथे में 11-11 मात्राएँ होती हैं। यदि पदान्त में होती है, विषम चरणों के आदि में जगण नहीं होना चाहिए। अन्त में लघु होता है। तुक प्रायः सम पादों की मिलती है। मात्रिक गणों का क्रम इस प्रकार रहता है- 6+4+3, 6+4+1+

साहित्य में स्थान

प्राकृत साहित्य में जो स्थान गाथा का है, प्रयोग की दृष्टि से अपभ्रंश में वही स्थान दोहा छन्द का है। अपभ्रंश में मुक्तक पद्यों के रूप में अनेक दोहे मिलते हैं। प्राकृत में जिस प्रकार 'गाथासप्तसती' तथा 'बज्जालग्ग' जैसे गाथाबद्ध संग्रह मिलते हैं, उसी प्रकार अपभ्रंश में और हिन्दी में दोहे के संग्रह मिलते हैं। उपदेश, मुक्तक पद्यों के रूप में तो दोहे का प्रयोग मुनि योगेन्द्र, रामसिंह, देवसेन तथा बौद्ध सिद्धों ने किया है। हेमचन्द्र तथा अन्य 'अलंकार शास्त्र', व्याकरण ग्रन्थ लेखकों ने अनेक दोहे अपनी कृतियों में उद्धृत किये हैं। स्वयंभू के 'पउमचरिउ' में भी दोहे का प्रयोग मिलता है। यह छन्द हिन्दी को अपभ्रंश से मिला है। सभी अपभ्रंश छन्द शास्त्र विषयक कृतियों में दोहे तथा उसके भेदों का विवेचन मिलता है।

भेद

'प्राकृतपैगलम्' आदि छन्द ग्रन्थों में दोहे के भ्रमर, भ्रामरादि 23 भेदों की चर्चा की गई है। वर्णों के लघु आदि भेद के अनुसार भी दोहे की जाति की चर्चा की गयी है, जैसे–

यदि दोहे में 12 लघु वर्ण हों तो वह विप्र होता है।

हेमचन्द्र तथा कुछ अन्य छन्दशास्त्री दोहे के प्रति दल में मात्राओं की संख्या 14़12 मानते हैं। 'दोहा' की व्युत्पत्ति 'द्विपथा' से मानते हैं। 'जर्मन विद्वान् याकोबी और अल्सर्डार्फ ने अपभ्रंश दोहों का बड़े विस्तार से विवेचन किया है।

दोहा छंद का प्रयोग

हिन्दी में यह प्राय: सभी प्रमुख कवियों द्वारा प्रयुक्त हुआ है। पद शैली के कवि सूरदास, मीरां आदि ने अपने पदों में इसका प्रयोग किया है। सतसई साहित्य में 'दोहा छन्द' ही प्रयुक्त हुआ है। दोहा 'मुक्तक काव्य' का प्रधान छन्द है। इसमें संक्षिप्त और तीखी भावव्यंजना, प्रभावशाली लघु चित्रों को प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता है।

सतसई के अतिरिक्त दोहे का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग भक्तियुग की प्रबन्ध काव्यशैली में हुआ है, जिसमें तुलसीदास का 'रामचरितमानस' और जायसी का 'पद्मावत' प्रमुख है। चौपाई के प्रबन्धात्मक प्रवाह में दोहा गम्भीर गति प्रदान करता है और कथाक्रम में समुचित सन्तुलन भी लाता है।

दोहे का तीसरा प्रयोग रीतिग्रन्थ में लक्षण-निरूपण और उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए किया गया है। अपने संक्षेप के कारण ही दोहा छन्द लक्षण प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कबीर की साखियाँ दोहे के ही रूप हैं, यद्यपि छन्द शास्त्र के ज्ञान के अभाव में इनमें दोहों का विकृत और अव्यवस्थित रूप है। इनमें भी दोहे की सामान्य विशेषताएँ विद्यमान हैं। जायसी का 'भारतीय छन्द शास्त्र' से सीमित परिचय है और ऐसा जान पड़ता है, इन्होंने अपने दोहे को सन्तों की साखियों के माध्यम से ग्रहण किया है, अतः उनके इस छन्द के प्रयोग में भी अस्थिरता है। जायसी के दोहों में प्रायः विषम पद 12 ही मात्रा का है और सम 11 मात्रा का रूपवन्त मनि माथे, चन्द्र घटि वह बाढ़ि। मेदनि दरस लुभानी, असतुति बिनठै ठाढ़ि। जायसी के कुछ दोहों में तो विषम पदों में 16 मात्राएँ तक हैं। तुलसीदास ने एक विषम पद में 12 मात्राओं का प्रयोग नवीनता लाने के रूप में किया है - भोजन करत चपल चित, इस उत अवसर पाइ।

कबीर के दोहे की भाषा और शैली

कबीरदास ने बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया है। भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में कहलवा लिया-बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवा फक्कड़ कि किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत ही कम लेखकों में पाई जाती है। असीम-अनंत ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानंद का आस्वादन कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधु और जोगिया, मुल्ला और मौलवी-सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते थे। अत्यन्त सीधी भाषा

में वे ऐसी चोट करते हैं कि खानेवाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं पाता।

इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है। कबीर ने जिन तत्त्वों को अपनी रचना से ध्वनित करना चाहा है, उसके लिए कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की सम्भावना भी नहीं है और जरूरत भी नहीं है। परन्तु कालक्रम से वह भाषा आज के शिक्षित व्यक्ति को दुरूह जान पड़ती है। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषा में परम्परा से चली आई विशेषताएँ वर्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारण को जाने बिना उस भाषा को ठीक-ठीक समझना सम्भव नहीं है। इस पुस्तक में उसी ऐतिहासिक परम्परा के अध्ययन का प्रयास है। यह प्रयास पूर्ण रूप से सफल ही हुआ होगा, ऐसा हम कोई दावा नहीं करते, परन्तु वह ग्रहणीय नहीं है, इस बात में लेखक को कोई सन्देह नहीं है।

पंचमेल खिचड़ी भाषा

कबीर की रचनाओं में अनेक भाषाओं के शब्द मिलते हैं यथा - अरबी, फारसी, पंजाबी, बुन्देलखंडी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि के शब्द मिलते हैं इसलिए इनकी भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी' या 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा जाता है। प्रसंग क्रम से इसमें कबीरदास की भाषा और शैली समझाने के कार्य से कभी-कभी आगे बढ़ने का साहस किया गया है। जो वाणी के अगोचर हैं, उसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है, जो मन और बुद्धि की पहुँच से परे हैं, उसे बुद्धि के बल पर समझने की कोशिश की गई है, जो देश और काल की सीमा के परे हैं, उसे दो-चार-दस पृष्ठों में बाँध डालने की साहसिकता दिखाई गई है। कहते हैं, समस्त पुराण और महाभारतीय संहिता लिखने के बाद व्यासदेव ने अत्यन्त अनुताप के साथ कहा था कि 'हे अधिल विश्व के गुरुदेव, आपका कोई रूप नहीं है, फिर भी मैंने ध्यान के द्वारा इन ग्रन्थों में रूप की कल्पना की है, आप अनिर्वचनीय हैं, व्याख्या करके आपके स्वरूप को समझा सकना सम्भव नहीं है, फिर भी मैंने स्तुति के द्वारा व्याख्या करने की कोशिश की है। वाणी के द्वारा प्रकाश करने का प्रयास किया है। तुम समस्त-भुवन-व्याप्त हो, इस ब्रह्मांण्ड के प्रत्येक अणु-परमाणु में तुम भिने हुए हो, तथापि तीर्थ-यात्रादि

विधान से उस व्यापित्व को खंडित किया है। भला जो सर्वत्र परिव्याप्त है, उसके लिए तीर्थ विशेष में जाने की क्या व्यवस्था? सो हे जगदीश, मेरी बुद्धिगत विकलता के ये तीन अपराध–अरूप की रूपकल्पना, अनिर्वचनीय का स्तुतिनिर्वचन, व्यापी का स्थान–विशेष में निर्देशकृतुम क्षमा करो।' क्या व्यास जी के महान् आदर्श का पदानुसरण करके इस लेखक को भी यही कहने की जरूरत है?

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्,
स्तुत्या निर्वचनीयता खिलगुरोदूरी कृतायन्मया।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रदिना,
क्षन्तव्यं जगदशी, तद् विकलता–दोषत्रयं मत्कृतम॥

वृद्धावस्था में यश और कीर्त्ति ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। उसी हालत में उन्होंने बनारस छोड़ा और आत्मनिरीक्षण तथा आत्मपरीक्षण करने के लिये देश के विभिन्न भागों की यात्राएँ कीं। इसी क्रम में वे कालिंजर जिले के पिथौराबाद शहर में पहुँचे। वहाँ रामकृष्ण का छोटा सा मन्दिर था। वहाँ के संत भगवान गोस्वामी जिज्ञासु साधक थे किंतु उनके तर्कों का अभी तक पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। संत कबीर से उनका विचार–विनिमय हुआ। कबीर की एक साखी ने उन के मन पर गहरा असर किया–

बन ते भागा बिहरे पड़ा, करहा अपनी बान।
करहा बेदन कासों कहे, को करहा को जान
मूर्त्ति पूजा को लक्ष्य करते हुए कबीरदास ने कहा है–
पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार।
या ते तो चाकी भली, जासे पीसी खाय संसार।
रूपातीत व्यंजना और खंडन मंडन

कबीरदास

प्रेम भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे–अच्छे विद्वान् उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जानने वाला, अहंकारी, अगुण–सगुण–विवेक–अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर संतोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोक में अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेम के क्षेत्र में, स्वाधीनभर्तृका नायिका के गर्व की भाँति अपने और प्रिय के प्रति अखंड विश्वास की परिचायक है, जो बात

लोक में दब्बूपन और कायरता कहलाती है, वही भगवत्प्रेम के क्षेत्र में भगवान के प्रति भक्त का अनन्य परायण आम्तार्पण होती है और जो बातें लोक में परस्पर विरुद्ध जँचती हैं भगवान के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है। लोक में ऐसे जीव की कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्णहीन होकर भी सब कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब कुछ देख सकता हो, वाणीहीन होकर भी वक्ता हो सकता हो, जो छोटे-से-छोटा भी हो और बड़े-से-बड़ा भी, जो एक भी हो और अनेक भी, जो बाहर भी हो भीतर भी, जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी, जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय सेवक भी, जिसमें समस्त गुणों का आरोप भी किया जा सके और गुणहीनता का भी, और फिर भी जो न इन्द्रिय का विषय हो, न मन का, न बुद्धि का। परन्तु भगवान के लिए सब विशेषण सब देशों के साधक सर्व-भाव से देते रहे हैं। जो भक्त नहीं हैं, जो अनुभव के द्वारा साक्षात्कार किए हुए सत्य में विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्क में उलझकर रह जाते हैं, पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहिं-सगुणहिं नहिं कछु भेदा' (तुलसीदास)। परन्तु तर्क परायण व्यक्ति इस कथन के अटपटेपन को वदतो-व्याघात कहकर संतोष कर लेता है।

यदि भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो निस्सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्त के लिए वे सारी बातें बेमतलब हैं, जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनन्द पाया करते हैं। भगवान के अनिवर्चनीय स्वरूप को भक्त ने जैसा कुछ देखा है वह वाणी के प्रकाशन क्षेत्र के बाहर हैं, इसीलिए वाणी नाना प्रकार से परस्पर विरोधी और अविरोधी शब्दों के द्वारा उस परम प्रेममय का रूप निर्देश करने की चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थता पर नहीं जाता, वह उसकी रूपातीत व्यंजना को ही देखता है। भक्ति तत्त्व की व्याख्या करते-करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्व की उपलब्धि में बाधक है! यह बात ही समाज सुधार और साम्प्रदाय ऐक्य की विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह भी फोकट का माल या बाईप्रोडक्ट ही है।

कबीरदास का भक्त रूप

कबीरदास का यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस

केन्द्रीय वस्तु का प्रकाश भाषा की पहुँच से बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदासे ने इस बात को हजार तरीके से कहा है। इस भक्ति या भगवान के प्रति अहैतुक अनुराग की बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ीं हैं जो भक्ति नहीं हैं। पर भक्ति के अनुभव करने में सहायक हैं। मूल वस्तु चूँकि वाणी के अगोचर है, इसलिए केवल वाणी का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की और इशारा किया है, उसे ध्वनित किया गया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिए अकथ्य का ध्वनन, काव्य-शक्ति का चरम निर्देशन नहीं तो क्या है? फिर भी ध्वनित वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है-बाइप्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।

रमैनी

कबीर बीजक में 'रमैनी' की व्युत्पत्ति 'रामणी' से मानी गयी है। इसका विषय, 'जीवात्माओं की संसरणादि क्रीड़ाओं का सविस्तार वर्णन है।' परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि 'रामायण' शब्द का क्रमशः रमैन बन जाना तथा उसे अल्पत्व बोध कराने के लिए 'रमैनी' रूप दिया जाना, उतना अस्वाभाविक नहीं है। रमैनी का अर्थ संसार में जीवों का रमण या वेदशास्त्र के विचारों में रमण भी अनुमानित किया गया है। इसका अर्थ यदि राम के चिन्तन मनन या राम के वृत्त में रमण करना लगाया जाए तो अधिक समीचीन है। वेदशास्त्र की बात सन्तों के सन्दर्भ में ग्रहणीय नहीं है। 'कबीर बीजक' में एक पंक्ति में 'रमैनी' शब्द आया है- अदबुद रूप जात कै बानी, उपजी प्रीति रमैनी ठानी।

यहाँ रमैनी का प्रयोग स्तुति वर्णन या रामधुन माना जा सकता है। 'रमैनी' के कुछ ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिससे यह अनुमान किया गया है कि रमैनियों की रचना लोकोपचार की दृष्टि से भी की जाती थी। रमैनियों की रचना दोहा, चौपाइयों में की गयी है। इनकी शैली प्रायः वर्णनात्मक है। इसका सम्बन्ध अपभ्रंश में प्रचलित 'पद्धडियाबद्ध' कडवक परम्परा से जोड़ा गया है।

प्रकार

रमैनी निम्न प्रकार की पायी जाती हैं–

बावनी (रमैनी)–बावनी की रचना देवनागरी वर्णमाला के अक्षरों के क्रम में की जाती है। कबीरदास ने स्वरों को और व्यंजनों में =k, स को छोड़कर द्विपदियाँ रची हैं। बावनी का आरम्भ दोहे से और अन्त चौपाइयों से होता है। इसका प्रयोग कबीरदास की रचनाओं में मिलता है।

चौंतीसा–चौंतीसा भी रमैनी का एक रूप है। चौंतीस भी बावनी की पद्धति का काव्य रूप है। इसकी रचना स्वरों को छोड़कर की जाती है। ग्यान चौंतीसा में चौपाई छन्द का व्यवहार किया गया है, किन्तु सर्वत्र उसका शुद्ध रूप उपलब्ध नहीं होता है।

थिंती–आदि ग्रन्थ में 'थिंती' नाम से एक रचना मिलती है, जिसे कबीर ग्रन्थावली तथा बीजक में स्थान नहीं मिला है। 'थिंती' शब्द 'तिथि' का अपभ्रष्ट रूप है। इसमें महीने की दोनों पक्षों की तिथियों के क्रम में रचना होती है।

वार–वार रमैनी में सात दिनों (वारों) का क्रमशः उल्लेख करते हुए उपदेश दिया जाता है। इस काव्य रूप में कबीरदास की केवल एक रचना उपलब्ध होती है।

बसन्त–कबीर ने बसन्त राग में तेरह पदों की रचना की है। अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'फागु' शीर्षक से अनेक रचनाओं को सृजित किया है। होली, बसन्त आदि फागु के ही अन्य नाम हैं। बसन्त की मादक ऋतु में प्रचलित इस लोकगीत को कबीर ने उपदेश के लिए चुना, इसीलिए उन्होंने कुछ रचनाओं में इसका व्यवहार किया है।

हिंडोला–हिंडोला सावन का पहला झूला गीत है। झूला गीत के अनुकरण पर कबीर ने आध्यात्मिक या यौगिक हिंडोला की रचना की है।

चाँचर–अपभ्रंश में 'चर्चरी' काव्य रूप हिन्दी में चाँचर के रूप में प्रचलित हुआ। कबीर के 'चाँचर' में छन्दगत एकरूपता नहीं मिलती। किसी में 25 पंक्तियाँ और किसी में 28 पंक्तियाँ हैं। चाँचर भी बसन्तोत्सव में गाया जाने वाला लोकगीत है, जिसे कवियों ने साहित्य में स्थान दिया।

कहरा–कहरा को कहरवा का संक्षिप्त रूप माना जाता है। कुछ विद्वान् 'कहरा' का सम्बन्ध 'कहर' से जोड़ते हैं, जिसका अर्थ है 'संसार के जरा मरण रूप कहर (क्लेश) से बचने वाला' कहरे में 30 मात्राएँ तथा 16, 14 पर यति मिलती है। इस नियम का कड़ाई से पालन नहीं किया गया है।

बेलि–कबीर ग्रन्थावली में दो रचनाएँ बेलि शीर्षक से दी गयी हैं। एक में 30 पंक्तियाँ और दूसरी में 16। प्रत्येक पंक्ति के अन्त में 'हो रमैया हो' नाम से 10 मात्राओं की टेक भी है।

विरहुल–विरहुल शब्द विरह वाली या विरहिणी से निर्मित हुआ शब्द है। यह 'विरहाकुल' का भी संक्षेपण हो सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार विरहुली नाम का कोई साँप उतारने का मन्त्र रहा होगा। 'कबीर बीजक' में एक रचना इस काव्यरूप में निबद्ध है।

विप्रमतीसी–विप्रमतीसी रमैनी कबीर बीजक में इस तरह की एक मात्र रचना मिलती है। इसमें चौपाइयों की तीस अर्धालियाँ हैं और अन्त में एक साखी है। इसे 'विप्रमति तीसी' का बिगड़ा रूप माना जा सकता है। इसका अर्थ है 'विप्रो की मति का विवेचन करने वाली तीस पंक्तियाँ' यह वास्तव में कोई काव्यरूप नहीं है। लगता है सन्तों ने इस व्यंग्य काव्यरूप का स्वयं प्रवर्त्तन किया है।

कबीर के द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों को देखने से ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि लोक परम्परा की ओर थी। उन्होंने आदिकाल में प्रचलित काव्यरूपों की लोकोन्मुखी परम्परा को आत्मसात करके अपनी अनुभूति और विचारों को सामान्य जनों में प्रचलित गीत माध्यमों से सम्प्रेषित किया है। विभिन्न लोक-काव्यरूपों का सफल और मौलिक प्रयोग, कबीर को कवि ही नहीं, बल्कि लोक कवि सिद्ध करता है।

10

छंद

संस्कृत वांग्मय में सामान्यत: लय को बताने के लिये छन्द शब्द का प्रयोग किया गया है। विशिष्ट अर्थों या गीत में वर्णों की संख्या और स्थान से सम्बंधित नियमों को छ्न्द कहते हैं जिनसे काव्य में लय और रंजकता आती है। छोटी-बड़ी ध्वनियां, लघु-गुरु उच्चारणों के क्रमों में, मात्रा बताती हैं और जब किसी काव्य रचना में ये एक व्यवस्था के साथ सामंजस्य प्राप्त करती हैं तब उसे एक शास्त्रीय नाम दे दिया जाता है और लघु-गुरु मात्राओं के अनुसार वर्णों की यह व्यवस्था एक विशिष्ट नाम वाला छन्द कहलाने लगती है, जैसे चौपाई, दोहा, आर्या, इन्द्रवज्रा, गायत्री छन्द इत्यादि। इस प्रकार की व्यवस्था में मात्रा अथवा वर्णों की संख्या, विराम, गति, लय तथा तुक आदि के नियमों को भी निर्धारित किया गया है जिनका पालन कवि को करना होता है। इस दूसरे अर्थ में यह अंग्रेजी के 'मीटर' अथवा उर्दू-फारसी के 'रुकन' (अराकान) के समकक्ष है। हिन्दी साहित्य में भी छन्द के इन नियमों का पालन करते हुए काव्यरचना की जाती थी, यानि किसी न किसी छन्द में होती थीं। विश्व की अन्य भाषाओं में भी परम्परागत रूप से कविता के लिये छन्द के नियम होते हैं।

छन्दों की रचना और गुण-अवगुण के अध्ययन को छन्दशास्त्र कहते हैं। चूँकि, आचार्य पिंगल द्वारा रचित 'छन्द:शास्त्र' सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है जिसे 'पिंगलशास्त्र' भी कहा जाता है। यदि गद्य की कसौटी 'व्याकरण' है तो कविता की कसौटी 'छन्द' है। पद्यरचना का समुचित ज्ञान छन्दशास्त्र की जानकारी के बिना नहीं होता। काव्य और छन्द के प्रारम्भ में 'अगण' अर्थात् 'अशुभ गण' नहीं आना चाहिए।

छंद का अर्थ

छंद शब्द ' चद ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है – खुश करना। हिंदी साहित्य के अनुसार अक्षर, अक्षरों की संख्या, मात्रा, गणना, यति, गति से संबंधित किसी विषय पर रचना को छंद कहा जाता है। अर्थात् निश्चित चरण, लय, गति, वर्ण, मात्रा, यति, तुक, गण से नियोजित पद्य रचना को छंद कहते हैं। अंग्रेजी में छंद को डमजं ओर कभी –कभी टमतेम भी कहते हैं।

छंद के अंग

1. मात्रा
2. यति
3. गति
4. तुक
5. गण

1. छंद में मात्रा का अर्थ :– वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है उसे ही मात्रा कहा जाता है। आर्थत् वर्ण को बोलने में जो समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं आर्थत् किसी वर्ण के उच्चारण काल की अवधि मात्रा कहलाती है।

2. यति :– पद्य का पाठ करते समय गति को तोडकर जो विश्राम दिया जाता है उसे यति कहते हैं। सरल शब्दों में छंद का पाठ करते समय जहाँ पर कुछ देर के लिए रुकना पड़ता है उसे यति कहते हैं। इसे विराम और विश्राम भी कहा जाता है।

इनके लिए (]), (1), (11), (?), (!) चिन्ह निश्चित होते हैं। हर छंद में बीच में रुकने के लिए कुछ स्थान निश्चित होते हैं, इसी रुकने को विराम या यति कहा जाता है। यति के ठीक न रहने से छंद में यतिभंग दोष आता है।

3. गति :– पद्य के पथ में जो बहाव होता है उसे गति कहते हैं। आर्थत् किसी छंद को पढ़ते समय जब एक प्रवाह का अनुभव होता है उसे गति या लय कहा जाता है। हर छंद में विशेष प्रकार की संगीतात्मक लय होती है जिसे गति कहते हैं। इसके ठीक न रहने पर गतिभंग दोष हो जाता है।

4. तुक :– समान उच्चारण वाले शब्दों के प्रयोग को ही तुक कहा जाता है। छंद में पदांत के अक्षरों की समानता तुक कहलाती है।

तुक के भेद :-

1. तुकांत कविता
2. अतुकांत कविता

1. तुकांत कविता :- जब चरण के अंत में वर्णों की आवृति होती है उसे तुकांत कविता कहते हैं। पद्य प्राय: तुकांत होते हैं।

जैसे :- "हमको बहुत ई भाती हिंदी।
हमको बहुत है प्यारी हिंदी।"

2. अतुकांत कविता :- जब चरण के अंत में वर्णों की आवृति नहीं होती उसे अतुकांत कविता कहते हैं। नई कविता अतुकांत होती है।

जैसे :- "काव्य सर्जक हूँ
प्रेरक तत्त्वों के अभाव में
लेखनी अटक गई हैं
काव्य-सृजन हेतु
तलाश रहा हूँ उपादान।"

5. गण :- मात्राओं और वर्णों की संख्या और क्रम की सुविधा के लिए तीन वर्णों के समूह को गण मान लिया जाता है। वर्णिक छंदों की गणना गण के क्रमानुसार की जाती है। तीन वर्णों का एक गण होता है। गणों की संख्या आठ होती है।

यगण, तगण, लगण, रगण, जगण, भगण, नगण, सगण आदि। गण को जानने के लिए पहले उस गण के पहले तीन अक्षर को लेकर आगे के दो अक्षरों को मिलाकर वह गण बन जाता है।

छन्द के प्रकार

छन्द मुख्यत: 4 प्रकार के होते हैं–

1. वार्णिक छन्द
2. मात्रिक छन्द
3. मुक्तक छन्द
4. वर्णिक वृत छंद

1. वार्णिक छन्द

वर्णिक छन्द के सभी चरणों में वर्णों की गणना की जाती हैं और इनके चरणों में वर्णों की संख्या समान रहती हैं, इसके साथ लघु और गुरु का क्रम समान रहता हैं।

उदाहरण–

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यार कहाँ हैं।
दु:ख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ हैं।।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ हैं।।

वार्णिक छन्द के 3 प्रकार होते हैं–

1. सम वार्णिक छन्द
2. अर्द्वसम वार्णिक छन्द
3. विषम वार्णिक छन्द

2. मात्रिक छन्द

मात्रिक छन्द में मात्राओं की गणना की जाती हैं और इसके प्रत्येक चरण में मात्राओं की संख्या तो समान होती हैं किंतु लघु और गुरु का क्रम निर्धारित नहीं होता हैं।

मात्रिक छन्द 3 प्रकार के होते हैं।

1. सम मात्रिक छन्द
2. अर्द्व सममात्रिक छन्द
3. विषम मात्रिक छन्द

1. सम मात्रिक छन्द–इस छन्द के सभी चरणों में मात्राओं की संख्या समान होती हैं।

सम मात्रिक छन्द 2 प्रकार के होते हैं–

1. साधारण सममात्रिक छंद
2. दण्डिक सममात्रिक छंद

2. अर्द्व सम मात्रिक छन्द–वे छन्द जिनके सम मात्रिक विषम चरणों में मात्राएं अलग अलग होती हैं। मात्राओं के आधार पर दोहा (13, 11) दोहा का उल्टा सोरठा (11, 13) होता हैं।

3. विषम मात्रिक छन्द–वे छन्द जो कि दो छन्दों से मिलकर बनते हैं इनमें मात्राओं की संख्या समान नहीं होती हैं।

उदाहरण –

कुण्डलिया दोहा (13, 11) . रोला (24),
छप्पर उल्लाला (15, 13) . रोला (24),

3. मुक्तक छन्द

जिस विषम छन्द में वर्ण और मात्राओं पर प्रतिबंध न हो और ना ही प्रत्येक चरण में वर्णों की मात्रा और क्रम समान हो और ना ही मात्राओं की कोई निश्चित व्यवस्था हो जिसमें नाद और ताल के आधार पर पंक्तियों में लय लाकर उन्हें गतिशीलता करने का आग्रह हो उसे मुक्तक छन्द कहते हैं।

उदाहरण –

1. मातु पिता गुरू स्वामि सिख, सिर धरि करहीं सुभयूँ।
   लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर, जतरु जनमु जग जाए।।
2. रहिमन पानी रखिए, बिन पानी सब सुन!
   पानी गए न ऊबरै, मोती मानुस चुन!!

4. वर्णिक वृत छंद

इसमें वर्णों की गणना होती है। इसमें चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में आने वाले लघु –गुरु का क्रम सुनिश्चित होता है। इसे सम छंद भी कहते हैं।

जैसे–मत्तगयन्द सवैया।

प्रमुख मात्रिक छंद निम्लिखित हैं–

दोहा छंद
सोरठा छंद
रोला छंद
गीतिका छंद
हरिगीतिका छंद
उल्लाला छंद
चौपाई छंद

बरवै (विषम) छंद
छप्पय छंद
कुंडलियाँ छंद
दिगपाल छंद
आल्हा या वीर छंद
सार छंद
तांटक छंद
रूपमाला छंद
त्रिभंगी छंद

1. दोहा छंद–यह अर्धसममात्रिक छंद होता है। ये सोरठा छंद के विपरीत होता है। इसमें पहले और तीसरे चरण में 13-13 तथा दूसरे और चौथे चरण में 11-11 मात्राएँ होती हैं। इसमें चरण के अंत में लघु (1) होना जरूरी होता है।

जैसे–

कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर।
समय पाय तरुवर फरै, केतक सींचो नीर।।"

2. सोरठा छंद–यह अर्धसममात्रिक छंद होता है। ये दोहा छंद के विपरीत होता है। इसमें पहले और तीसरे चरण में 11-11 तथा दूसरे और चौथे चरण में 13-13 मात्राएँ होती हैं। यह दोहा का उल्टा होता है। विषम चरणों के अंत में एक गुरु और एक लघु मात्रा का होना जरूरी होता है। तुक प्रथम और तृतीय चरणों में होता है।

जैसे –

(i) "कहै जु पावै कौन, विद्या धन उद्दम बिना।
ज्यों पंखे की पौन, बिना डुलाए ना मिलें।"

(ii) जो सुमिरत सिधि होय, गननायक करिबर बदन।
करहु अनुग्रह सोय, बुद्धि रासि सुभ गुन सदन।

3. रोला छंद–यह एक मात्रिक छंद होता है। इसमें चार चरण होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में 11 और 13 के क्रम से 24 मात्राएँ होती हैं। इसे अंत में दो गुरु और दो लघु वर्ण होते हैं।

जैसे–

(i) "नीलाम्बर परिधान, हरित पट पर सुन्दर है।
सूर्य चन्द्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।

नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन है।
बंदी जन खग-वृन्द, शेष फन सिंहासन है।"
(ii) यही सयानो काम, राम को सुमिरन कीजै।
पर स्वारथ के काज, शीश आगे धर दीजै।।

4. गीतिका छंद–यह मात्रिक छंद होता है। इसके चार चरण होते हैं। हर चरण में 14 और 12 के करण से 26 मात्राएँ होती हैं। अंत में लघु और गुरु होता है।

जैसे–
"हे प्रभो आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये।
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिये।
लीजिए हमको शरण में, हम सदाचारी बने।
ब्रह्मचारी, धर्मरक्षक वीर व्रतधारी बनें।"

5. हरिगीतिका छंद–यह मात्रिक छंद होता है। इसमें चार चरण होते हैं। इसके हर चरण में 16 और 12 के क्रम से 28 मात्राएँ होती हैं। इसके अंत में लघु गुरु का प्रयोग अधिक प्रसिद्ध है।

जैसे–
"मेरे इस जीवन की है तू, सरस साधना कविता।
मेरे तरु की तू कुसुमित, प्रिय कल्पना लतिका।
मधुमय मेरे जीवन की प्रिय, है तू कल कामिनी।
मेरे कुंज कुटीर द्वार की, कोमल चरण-गामिनी।"

6. उल्लाला छंद–यह मात्रिक छंद होता है। इसके हर चरण में 15 और 13 के क्रम से 28 मात्राएँ होती है।

जैसेरू
"करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही, सगुण-मूर्ति सर्वेश की।"

7. चौपाई छंद–यह एक मात्रिक छंद होता है। इसमें चार चरण होते हैं। इसके हर चरण में 16 मात्राएँ होती हैं। चरण के अंत में गुरु या लघु नहीं होता है, लेकिन दो गुरु और दो लघु हो सकते हैं। अंत में गुरु वर्ण होने से छंद में रोचकता आती है।

जैसे –
1. "इहि विधि राम सबहिं समुझावा

गुरु पद पदुम हरषि सिर नावा।"

2. बंदउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुराग।

अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।

8. विषम छंद–इसमें पहले और तीसरे चरण में 12 और दूसरे और चौथे चरण में 7 मात्राएँ होती हैं। सम चरणों के अंत में जगण और तगण के आने से मिठास बढ़ती है। यति को प्रत्येक चरण के अंत में रखा जाता है।

जैसे–"चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सुहाय।

जानि परै सिय हियरे, जब कुम्हिलाय।।"

9. छप्पय छंद–इस छंद में 6 चरण होते हैं। पहले चार चरण रोला छंद के होते हैं और अंत के दो चरण उल्लाला छंद के होते हैं। प्रथम चार चरणों में 24 मात्राएँ और बाद के दो चरणों में 26-26 या 28-28 मात्राएँ होती हैं।

जैसे–"नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है।

सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।

नदिया प्रेम-प्रवाह, फूल तो मंडन है।

बंदी जन खग-वृन्द, शेषफन सिंहासन है।

करते अभिषेक पयोद है, बलिहारी इस वेश की।

हे मातृभूमि! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की।।"

10. कुंडलियाँ छंद–कुंडलियाँ विषम मात्रिक छंद होता है। इसमें 6 चरण होते हैं। शुरू के 2 चरण दोहा और बाद के 4 चरण उल्लाला छंद के होते हैं। इस तरह हर चरण में 24 मात्राएँ होती हैं।

जैसे–

(i) "घर का जोगी जोगना, आन गाँव का सिद्ध।

बाहर का बक हंस है, हंस घरेलू गिद्ध

हंस घरेलू गिद्ध, उसे पूछे ना कोई।

जो बाहर का होई, समादर ब्याता सोई।

चित्तवृति यह दूर, कभी न किसी की होगी।

बाहर ही धक्के खायेगा, घर का जोगी।।"

(ii) कमरी थोरे दाम की, बहुतै आवै काम।

खासा मलमल वाफ्ता, उनकर राखै मान।

उनकर राखै मान, बँद जहँ आड़े आवै।

बकुचा बाँधे मोट, राति को झारि बिछावै।

कह 'गिरिधर कविराय', मिलत है थोरे दमरी।
सब दिन राखै साथ, बड़ी मर्यादा कमरी।

11. दिगपाल छंद–इसके हर चरण में 12-12 के विराम से 24 मात्राएँ होती हैं।

जैसे –

"हिमाद्रि तुंग-श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र तुम, दृढ प्रतिज्ञ सो चलो।
प्रशस्त पुण्य-पंथ है, बढ़े चलो-बढ़े चलो।।"

12. आल्हा या वीर छंद – इसमें 16 -15 की यति से 31 मात्राएँ होती हैं।

13. सार छंद – इसे ललित पद भी कहते हैं। सार छंद में 28 मात्राएँ होती हैं। इसमें 16-12 पर यति होती है और बाद में दो गुरु होते हैं।

14. ताटंक छंद – इसके हर चरण में 16, 14 की यति से 30 मात्राएँ होती हैं।

15. रूपमाला छंद – इसके हर चरण में 24 मात्राएँ होती हैं। 14 और 10 मैट्रन पर विराम होता है। अंत में गुरु लघु होना चाहिए।

16. त्रिभंगी छंद – यह छंद 32 मात्राओं का होता है। 10, 8, 8, 6 पर यति होती है और अंत में गुरु होता है।

काव्य में छंद का महत्त्व

छंद से हृदय को सौंदर्यबोध होता है।
छंद मानवीय भावनाओं को झंकृत करते हैं।
छंद में स्थायित्व होता है।
छंद सरस होने के कारण मन को भाते हैं।
छंद के निश्चित लय पर आधारित होने के कारण वे सुगमतापूर्वक कण्ठस्थ हो जाते हैं।

छन्दशास्त्रा

छन्द शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। 'छन्द' वेद का पर्यायवाची नाम है। सामान्यत: वर्णों और मात्राओं की गेय-व्यवस्था को छन्द कहा

जाता है। इसी अर्थ में पद्य शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। पद्य अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाषा में शब्द और शब्दों में वर्ण तथा स्वर रहते हैं। इन्हीं को एक निश्चित विधान से सुव्यवस्थित करने पर 'छन्द' का नाम दिया जाता है।

छन्दशास्त्र इसलिये अत्यन्त पुष्ट शास्त्र माना जाता है क्योंकि वह गणित पर आधारित है। वस्तुत: देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि छन्दशास्त्र की रचना इसलिये की गई जिससे अग्रिम सन्तति इसके नियमों के आधार पर छन्दरचना कर सके। छन्दशास्त्र के ग्रन्थों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि जहाँ एक ओर प्रस्तार आदि के द्वारा आचार्य छन्दो को विकसित करते रहे वहीं दूसरी ओर कविगण अपनी ओर से छन्दों में किंचित् परिर्वन करते हुए नवीन छन्दों की सृष्टि करते रहे जिनका छन्दशास्त्र के ग्रन्थों में कालान्तर में समावेश हो गया।

प्राचीन संस्कृत वांग्मय में छन्द:शास्त्र के लिए अनेक नामों का व्यवहार उपलब्ध होता है:

(1) छन्दोविचिति, (2) छन्दोमान, (3) छन्दोभाषा, (4) छन्दोविजिनी (5) छन्दोविजिति, (छन्दोविजित), (6) छन्दोनाम, (7) छन्दोव्याख्यान, (8) छन्दसांविच्य, (9.) छन्दसांलक्षण, (10) छन्द:शास्त्र, (11) छन्दो नुशासन, (12) छन्दोविवृति, (13) वृत्त, (14) पि्गल

इतिहास

छन्दशास्त्र की रचना कब हुई, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित विचार नहीं दिया जा सकता। किंवदन्ति है कि महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं और उनका रामायण नामक काव्य आदिकाव्य है। 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं गम: शाश्वती समा: यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधि:, काममोहितं' – यह अनुष्टुप छन्द वाल्मीकि के मुख से निकला हुआ प्रथम छन्द है जो शोक के कारण सहसा श्लोक के रूप में प्रकट हुआ। यदि इस किंवदन्ती को मान लिया जाए, छन्द की रचना पहले हुई और छन्दशास्त्र उसके पश्चात् आया। वाल्मीकीय रामायण में अनुष्टुप छन्द का प्रयोग आद्योपान्त हुआ ही है, अन्य उपजाति आदि का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है।

एक अन्य किंवदन्ती यह है कि छन्दशास्त्र के आदि आविष्कर्ता भगवान् शेष हैं। एक बार गरुड़ ने उन्हें पकड़ लिया। शेष ने कहा कि हमारे पास एक अप्रतिम विद्या है जो आप सीख लें, तदुपरान्त हमें खाएँ। गरुड़ ने कहा कि आप बहाने बनाते

हैं और स्वरक्षार्थ हमें विभ्रमित कर रहे हैं। शेष ने उत्तर दिया कि हम असत्य भाषण नहीं करते। इसपर गरुड़ ने स्वीकार कर लिया और शेष उन्हें छन्दशास्त्र का उपदेश करने लगे। विविध छन्दों के रचनानियम बताते हुए अन्त में शेष ने 'भुंज्गप्रयाति' छन्द का नियम बताया और शीघ्र ही समुद्र में प्रवेश कर गए। गरुड़ ने इसपर कहा कि तुमने हमें धोखा दिया, शेष ने उत्तर दिया कि हमने जाने के पूर्व आपको सूचना दे दी। चतुर्भियकारैर्भुज्गप्रयातम् अर्थात् चार गणों से भुज्गप्रयाति छन्द बनता है और प्रयुक्त होता है। इस प्रकार छन्दशास्त्र का आविर्भाव हुआ।

इससे प्रतीत होता है कि छन्दशास्त्र एक दैवी विद्या के रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इसके आविष्ककर्ता 'शेष' नामक कोई आचार्य थे जिनके विषय में इस समय कुछ विशेष ज्ञान और सूचना नहीं है। इसके पश्चात् कहा जाता है कि शेष ने अवतार लेकर पिंगलाचार्य के रूप में छन्दसूत्र की रचना की, जो पिंगलशास्त्र कहा जाता है। यह ग्रंथ सूत्रशैली में लिखा गया है और इस समय तक उपलब्ध है। इसपर टीकाएँ तथा व्याख्याएँ हो चुकी हैं। यही छंदशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रंथ माना जाता है। इसके पश्चात् इस शास्त्र पर संस्कृत साहित्य में अनेक ग्रंथों की रचना हुई।

छंदशास्त्र के रचियताओं को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–एक आचार्य श्रेणी, जो छन्दशास्त्र का शास्त्रीय निरूपण करती है और दूसरी कवि श्रेणी, जो छन्दशास्त्र पर पृथक् रचनाएँ प्रस्तुत करती है। थोड़े समय के पश्चात् एक लेखक श्रेणी और प्रकट हुई जिनमें ऐसे लेखक आते हैं जो छन्दों के नियमादिकों की विवेचना अपनी ओर से करते हैं किंतु उदाहरण दूसरे के रचे हुए तथा प्रचलित अंशों से उद्धृत करते हैं। हिन्दी में भी छन्दशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं।

छ्न्दशास्त्र का विवेच्य विषय

छन्दशास्त्र में मुख्य विवेच्य विषय दो हैं –

छंदों की रचनाविधि, तथा

छन्द सम्बन्धी गणना जिसमें प्रस्तार, पताका, उद्दिष्ट, नष्ट आदि का वर्णन किया गया है। इनकी सहायता से किसी निश्चित संख्यात्मक वर्गों और मात्राओं के छन्दों की पूर्ण संख्यादि का बोध सरलता से हो जाता है।

छन्द के प्रकार

छन्द मुख्यत: दो प्रकार के हैं–

वैदिक छन्द

जिनका प्रयोंग वेदों में प्राप्त होता है। इनमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और स्वरित, इन चार प्रकार के स्वरों का विचार किया जाता है, यथा 'अनुष्टुप' इत्यादि। वैदिक छंद अपौरुषेय माने जाते हैं।

लौकिक छन्द

इनका प्रयोग साहत्यांतर्गत किया जाता हैं, किंतु वस्तुतः लौकिक छंद वे छंद हैं जिनका प्रचार सामान्य लोक अथवा जनसमुदाय में रहता है। ये छंद किसी निश्चित नियम पर आधारित न होकर विशेषतः ताल और लय पर ही आधारित रहते हैं, इसलिये इनकी रचना सामान्य अपठित जन भी कर लेते हैं। लौकिक छंदों से तात्पर्य होता है उन छंदों से जिनकी रचना निश्चित नियमों के आधार पर होती है और जिनका प्रयोग सुपठित कवि काव्यादि रचना में करते हैं। इन लौकिक छंदों के रचना-विधि-संबंधी नियम सुव्यवस्थित रूप से जिस शास्त्र में रखे गए हैं उसे छंदशास्त्र कहते हैं।

रसखान की छंद योजना

हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्त तथा रीतिकालीन कवियों में रसखान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'रसखान' को रस की खान कहा जाता है। रसखान की छंद योजना वह बेखरी (मानवोच्चरित ध्वनि) है, जो प्रत्यक्षीकृत निरंतर तरंग भंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ को अभिव्यंजना कर सके। भाषा के जन्म के साथ-साथ ही कविता और छंदो का संबंध माना गया है। छंदों द्वारा अनियंत्रित वाणी नियंत्रित तथा ताल युक्त हो जाती है। गद्य की अपेक्षा छंद अधिक काल तक सजाज में प्रचलित रहता है, जो भाव छंदोबद्ध होता है उसे अपेक्षाकृत अधिक अमरत्व मिलता है। भाव को प्रेषित करने के साथ-साथ छंद में मुग्ध करने की शक्ति होती है। छंद के द्वारा कल्पना का रूप सजग होकर मन के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है।

छंद की व्यंजना शक्ति भी गद्य की अपेक्षा अधिक होती है। उसके माध्यम से थोड़े शब्दों में बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। छंद की सीमा में बंधकर भाव उसी प्रकार अधिक वेगवान और प्रभावशाली हो जाता है जिस प्रकार तटों के बंधन से सरिता। छंद के आवर्तन में ऐसा आह्लाद होता है, जो तुरंत मर्म को स्पर्श करता है। स्थिर कथा को वेग देकर चित्त में प्रवेश कराने का श्रेय छंद को

ही है। छंद भावों का परिष्कार कर कोमलता का निर्माण करता है। छंदों के अनेक भेदोपभेद मिलते हैं। रसखान ने भक्तिकाल की गेय-पद परंपरा से हटकर सवैया, कवित्त और दोहों को ही अपनी रचना के उपयुक्त समझकर अपनाया।

सवैया छंद

इस छंद की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डा. नगेन्द्र का विचार है कि सवैया शब्द सपाद का अपभ्रंश रूप है। इसमें छंद के अंतिम चरण को सबसे पूर्व तथा अंत में पढ़ा जाता था अर्थात् एक पंक्ति दो बार और तीन पंक्तियां एक बार पढ़ी जाती थीं। इस प्रकार वस्तुतः चार पंक्तियों का पाठ पांच पंक्तियों का-सा हो जाता था। पाठ में 'सवाया' होने से यह छंद सवैया कहलाया। संस्कृत के किसी छंद से भी इसका मेल नहीं है। अतः यह जनपद-साहित्य का ही छंद बाद के कवियों ने अपनाया होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। यदि यह अनुमान सत्य हो तो प्राकृत, अपभ्रंश आदि में यह छंद अवश्य मिलना चाहिए जो हिन्दी में रूपांतरित हो गया है। किन्तु ऐसे किसी छंद के दर्शन नहीं होते। यह संभव है कि तेईस वर्णों वाले संस्कृत के उपजाति छंद के 14 भेदों में से किसी एक का परिवर्तित रूप सवैया बन गया हो। सवैया 22 अक्षरों से लेकर 28 अक्षरों तक का होता है। उपजाति भी 22 अक्षरों का छंद है। अक्षरों का लघु-गुरु भाव-सवैया में भी परिवर्तन ग्रहण करता है। वैदिक छंदों का भी लौकिक संस्कृत छंदों तक आते बड़ा रूप परिवर्तन हुआ। हो सकता है कि उपजाति का परिवर्तित रूप सवैया हो जो सवाया बोलने से सवैया कहलाया। 'प्राकृतपेंगलम्' में भी सवैयों का रूप मिलता है, किन्तु वहाँ उसे सवैया संज्ञा नहीं दी गई। 'प्राकृतपेंगलम्' का रचनाकाल संवत 1300 के आस-पास माना जाता है। अतः सवैया के प्रयोग का अनुमान 13वीं शताब्दी से लगाया जा सकता है। भक्तिकाल में गेय पदों का व्यवहार विशेष रूप से होने लगा।

सूरदास के आविर्भाव तक हिन्दी में सवैयों का प्रचलन नहीं हुआ।

जगनिक के आल्हा खंड में कुछ सवैये अवश्य प्राप्त हैं, किन्तु उनकी भाषा से यही अनुमान होता है किये बाद में क्षेपक रूप में आए। प्रामाणिक रूप से इस छंद का प्रयोग अकबर के काल से प्रारंभ होता है।

पं. नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित्र' सवैयों और दोहों में ही लिखा गया है।

तुलसीदास ने 'कवितावली' में इन्हीं छंदों का आश्रय लिया है।

केशवदास की 'रामचंद्रिका' में भी सवैये काफी मिलते हैं।

इस प्रकार रसखान ने भक्ति काल की पद परंपरा से हटकर सवैया छंद को अपनाया।

घनाक्षरी

घनाक्षरी या कवित्त के प्रथम दर्शन भक्तिकाल में होते हैं। हिन्दी में घनाक्षरी वृत्तों का प्रचलन कब से हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है।

चंदबरदाई के पृथ्वीराज रासों में दोहा तथा छप्पय छंदों की प्रचुरता है। सवैया और घनाक्षरी का वहाँ भी प्रयोग नहीं मिलता। प्रामाणिक रूप से घनाक्षरी का प्रयोग अकबर के काल में मिलता है। घनाक्षरी छंद में मधुर भावों की अभिव्यक्ति उतनी सफलता के साथ नहीं हो सकती जितनी ओजपूर्ण भावों की।

रसखान ने छंद की प्रवृत्ति का विचार न करते हुएश्रृंगार तथा भक्ति रस के लिए इस छंद का प्रयोग किया और लय तथा शब्दावली के आधार पर इसे भावानुकूल बना लिया।

सोरठा

यह अर्द्ध सम मात्रिक छंद है। दोहा छंद का उलटा होता है। इसमें 25-23 मात्राएं होती हैं। रसखान के काव्य में चार सोरठे मिलते हैं। प्रीतम नंदकिशोर, जा दिन ते नैननि लग्यौ।

मनभावन चित चोर, पलक औट नहि सहि सकौं।

इस प्रकार रसखान के काव्य में कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा आदि छंद प्रयुक्त हुए हैं।

इनके अतिरिक्त एक धमार सारंग, राग पद में भी मिलता है।

रसखान के छंद कोमल कांत पदावली से युक्त हैं। उनमें संगीतात्मकता है। दोहा जैसे छोटे छंद में गूढ़ तथ्यों का निरूपण उनकी प्रतिभा का परिचायक है। छंदों में अंत्यानुप्रास का सफल निर्वाह हुआ है। साथ ही छंद, भाव तथा रसानुकूल हैं।

छंद और शब्द स्वरूप विपर्यय

काव्य में सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए तथा छंदानुरोध पर प्राय: कवि शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा करते हैं रसखान ने भी काव्य चमत्कार एवं छंद की मात्राओं के अनुरोध पर शब्दों के स्वरूप को बदला है–

झलकैयत, तुलैयत, ललचौयत, लैयत – छंदाग्रह से झलकाना, तुलाना, ललचाना, लाना शब्दों से।

पग पैजनी बाजत पीरी कछौटी –कृष्ण की वय की लघुता के आग्रह, स्वाभाविकता एवं सौंदर्य लाने के लिए कछौटा से कछौटी।

टूटे छरा बछरादिक गौधन – छंदानुरोध पर तथा बछरा से शब्द साम्य के लिए छल्ला से छरा।

मोल छला के लला ने बिकेहौं – लला के आग्रह से छला।

मीन सी आंखि मेरी अंसुवानी रहैं – आंसुओं से भरी रहने के अर्थ में माधुर्य लाने के लिए आंसू से अंसुवानी।

मान की औधि घरी – छंद की मात्रा के आग्रह से अवधि से औधि।

पांवरिया, भांवरिया, डांवरिया, सांवरिया, बावरिया – पौरी, भौंरी, सांवरे, बावरी आदि से छंदानुरोध पर पांवरिया, भांवरिया बना लिया गया।

लकुट्टनि, भृकुट्टनि, उघुट्टनि, मुकुट्टनि – छंदाग्रह से लकुटी, भृकुटी, मुकुट आदि शब्दों से बनाया।

हम हैं वृषभानपुरा की लली – लला (पुत्र) के जोड़ पर पुत्री के अर्थ में लली शब्द का प्रयोग हुआ है।

फोरि हौ मटूकी माट – छंदानुरोध पर मटुकी से मटूकी।

ज्ञानकर्म 'रु' उपासना, सब अहमिति को मूल– यहाँ छंदानुरोध पर अरु से 'रु' किया गया है।

रसखान के काव्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ उन्होंने छांदिक सौंदर्य के लिए शब्दों के रूप में परिवर्तन किया है। किंतु इस शब्द–विपर्यय में कहीं भी अस्वाभाविकता के दर्शन नहीं होते। न ही शब्द नट की कला की भांति रूप बदलते हैं। कहीं–कहीं तो उन्होंने शब्दों को इस प्रकार संजोया है कि स्वाभाविकता के दर्शनों के साथ भाव–सौंदर्य भी दिखाई देता है। मोर, पंखा, मुरली, बनमाल लखें हिय को हियरा उमह्यौरी, यहाँ मसृणता लाने के लिए हियरा शब्द का प्रयोग किया गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रसखान छंद योजना में पूर्ण सफल हैं। अंत्यानुप्रास के सुंदर स्वरूप को भी उन्होंने अपने छंदों में स्थान दिया है। साथ ही उनमें संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है।

11

मुक्तक

मुक्तक काव्य या कविता का वह प्रकार है जिसमें प्रबन्धकीयता न हो। इसमें एक छन्द में कथित बात का दूसरे छन्द में कही गयी बात से कोई सम्बन्ध या तारतम्य होना आवश्यक नहीं है। कबीर एवं रहीम के दोहे, मीराबाई के पद्य आदि सब मुक्तक रचनाएं हैं। हिन्दी के रीतिकाल में अधिकांश मुक्तक काव्यों की रचना हुई।

मुक्तक शब्द का अर्थ है 'अपने आप में सम्पूर्ण' अथवा 'अन्य निरपेक्ष वस्तु' होना। अतः मुक्तक काव्य की वह विधा है जिसमें कथा का कोई पूर्वापर संबंध नहीं होता। प्रत्येक छंद अपने आप में पूर्णतः स्वतंत्र और सम्पूर्ण अर्थ देने वाला होता है।

संस्कृत काव्य परम्परा में मुक्तक शब्द सर्वप्रथम आनंदवर्धन ने प्रस्तुत किया। ऐसा नहीं माना जा सकता कि काव्य की इस दिशा का ज्ञान उनसे पूर्व किसी को नहीं था। आचार्य दण्डी मुक्तक नाम से न सही पर अनिबद्ध काव्य के रूप में इससे परिचित थे। 'अग्निपुराण' में मुक्तक को परिभाषित करते हुए कहा गया कि–

"मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमरू सताम"

अर्थात् चमत्कार की क्षमता रखने वाले एक ही श्लोक को मुक्तक कहते हैं। राजशेखर ने भी मुक्तक नाम से ही चर्चा की है। आनंदवर्धन ने रस को महत्त्व प्रदान करते हुए मुक्तक के संबंध में कहा कि–

"तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेः तदाश्रयमौचित्यम"

अर्थात् मुक्तकों में रस का अभिनिवेश या प्रतिष्ठा ही उसके बन्ध की व्यवस्थापिका है और कवि द्वारा उसी का आश्रय लेना औचित्य है।

हेमचंद्राचार्य ने मुक्तक शब्द के स्थान पर मुक्तकादि शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने उसका लक्षण दण्डी की परम्परा में देते हुए कहा कि जो अनिबद्ध हों, वे मुक्तादि हैं।

आधुनिक युग में हिन्दी के आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मुक्तक पर विचार किया, उनके अनुसार मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं, जिनमें हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध एक विस्तृत वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। इसमें उत्तरोत्तर दृश्यों द्वारा संगठित पूर्ण जीवन या उसके किसी पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।

आचार्य शुक्ल ने अन्यत्र मुक्तक के लिए भाषा की समास शक्ति और कल्पना की समाहार शक्ति को आवश्यक बताया था। गोविंद त्रिगुणायत ने उसी से प्रभावित होकर निम्न परिभाषा प्रस्तुत की।

मेरी समझ में मुक्तक उस रचना को कहते हैं जिसमें प्रबन्धत्व का अभाव होते हुए भी कवि अपनी कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समाज शक्ति के सहारे किसी एक रमणीय दृश्य, परिस्थिति, घटना या वस्तु का ऐसा चित्रात्मक एवं भावपूर्ण वर्णन प्रस्तुत करता है, जिससे पाठकों को प्रबंध जैसा आनंद आने लगता है।

वस्तुतः यह परिभाषा त्रुटिपूर्ण है। प्रबंध जैसा आनंद कहना उचित नहीं है। ऐसे में मुक्तक की परिभाषा निम्न भी बताई गयी है।

मुक्तक काव्य की वह विधा है जिसमें कथा का पूर्वापर संबंध न होते हुए भी त्वरित गति से साधारणीकरण करने की क्षमता होती है।

मेरी दृष्टि में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की परिभाषा पर्याप्त है। अंततः उसे चुना हुआ गुलदस्ता की कहा जा सकता है।

यदि कतिपय उत्कृष्ट एवं विशिष्ट उदाहरणों को अपवाद-रूप में परे हटा दिया जाय, तो मुक्तक-परिक्षेत्र में काफी असंतोषजनक स्थिति दिखायी पड़ती है। इसका सबसे बड़ा कारण शिल्पगत अध्ययन के प्रति उदासीनता है। हिन्दी काव्य के इस लघु परिक्षेत्र में संव्याप्त भाव-भाषा-शिल्प की अराजकता का ग्राफ इतना ऊँचा है, जिसे देखकर किसी भी विधा-मर्मज्ञ को आश्चर्य हो सकता है। कहीं किसी पत्रिका में 'रुबाई' शीर्षक के अन्तर्गत मुक्तक/कत्आत् प्रकाशित मिल जाते हैं, तो कहीं मुक्तक/कत्आत् की चारों पंक्तियाँ चार अलग-अलग छंदों से नजरें मिलाती नजर आ जाती हैं, इसे रचना का 'भैंगापन' कह देना, अनुचित नहीं जान पड़ता। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो चार में से एक भी पंक्ति किसी छंद-बहु की कसौटी पर खरी नहीं उतरती न मात्रिक और न ही वार्णिक। भाव और भाषा के जो दोष होते हैं, सो अलग! इसके अतिरिक्त कुछ छपास-प्रेमी कविगण अपनी छोटी-बड़ी बहरों पर आधारित गजलों में से किन्हीं मिलते-जुलते भावों पर टिके दो अश्आर (प्राय: एक मत्ला, एक शेर) मिलाकर 'मुक्तक' के रूप में खपा देते हैं। यह विडम्बना ही है कि जिन महाशयों को स्वयं ही किसी विधा-विशेष का समुचित ज्ञान नहीं है, वे भी उल्टा-सीधा (जैसा भी है) थोड़ा-बहुत काम करके स्वयं को विधागत पुरोधा बनाकर पेश करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, देश के लगभग हर क्षेत्र में ऐसे स्व-घोषित अथवा स्वजन-प्रक्षेपित 'गजल-सम्राट' मौजूद हैं, जिनकी स्वयं की गजलें भाव-भाषा-शिल्प की चौखट पर घुटने टेक देती हैं। यही बात कमोवेश 'मुरुक-प्रदेश' पर भी लागू है- मुरुक. ..अर्थात् 'मुक्तक़ रुबाई़ कता'। सौभाग्यवश 'सरस्वती सुमन' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिाका के अतिथि संपादक के रूप में मुझे देश-देशान्तर के 425 से अधिक मुरुक-लेखकों से सीधे संपर्क में आने का भरपूर अवसर मिला। उस दौरान कुछेक दर्जन ऐसे कविगण मिले, जिन्होंने अपनी मुक्तकाभिव्यक्तियों से मन मोह लिया। वहीं कुछ ऐसे कवियों से भी भेंट हुई, जो अपने मुक्तकों को 'रुबाई' कहते हैं। इन्हीं में से एक सज्जन ने तो अपने मुक्तक/कत्आत् का एक ऐसा संग्रह छपवा लिया, जिसमें आरम्भिक पृष्ठ पर शीर्षक के नीचे कोष्ठक में दर्ज है- 'रुबाइयाँ', जबकि उसमें शायद ही कोई 'रुबाई' शामिल हो!

मुक्तक-परिक्षेत्र में व्याप्त उक्तवत शैल्पिक अराजकता के उदाहरण-वैपुल्य के बीच एक बानगी नीचे प्रस्तुत है, जिसके रचयिता का नाम प्रकाशित करना कोई आवश्यक नहीं है। यहाँ मेरा उद्देश्य नवोदितों एवं जिज्ञासुओं के सम्मुख उदाहरण-सम्मत विचार प्रस्तुत करना है-

तन के तानपुरे की सुन ले, ये मिट्टी की महिमा गाता है
खुद अपनी पे आ इतना इतराता है, इठलाता है, मदमाता है
महाबली भीम की जब लेती है यहाँ चिता परीक्षा
एक लकड़ी भी वो अपनी छाती से हटा नहीं पाता है।

'छंद-बहु' के धरातल पर लड़खड़ाता हुआ उपर्युक्त मुक्तक निःसंदेह एक बड़ी 'सर्जरी' की माँग करता है। यह मुक्तक स्पष्ट संकेत दे रहा है कि मुक्तककार के पास भाव और विचार का 'अभाव' नहीं है। उसके पास न तो शब्दों का अकाल है, और न ही समुचित उदाहरण अथवा दृष्टान्त चुन लेने की क्षमता की कमी। उसके पास कमी है, तो बस सम्यक् 'छंद-ज्ञान' की, जिसके चलते उसके सुन्दर भाव, सारगर्भित विचार और सराहनीय शब्द-चयन आदि सब-के-सब धरे-के-धरे रह गये। छंद-ज्ञान के अभाव ने कवि के इस मुक्तक में अनुस्यूत 'तन के तानपुरे' का सुन्दर एवं अनुप्रास-युक्त रूपक तो सस्ते में गँवा ही दिया, साथ ही 'मिट्टी' और 'भीम' की सांकेतिकता पर भी ग्रहण लगा दिया है। इस मुक्तक की स्थिति कमोवेश वैसी ही है, जैसे कोई 'श्रेष्ठ विचारों वाला व्यक्ति' अस्त-व्यस्त दशा में किसी सार्वजनिक समारोह में उपस्थित हो गया हो आकर! इस सबके बावजूद इसमें गुँथे भावों-विचारों की उत्कृष्टता ने मुझे प्रेरित किया कि इसका कमोवेश 'ऑपरेशन' किया जाय। ऐसा ऑपरेशन, जिसमें थोड़ा-बहुत शिल्पगत समझौता स्वीकार करते हुए मुक्तककार (?) के मूल भाव-विचार में कोई विशेष अन्तर उत्पन्न न होने पाये। सो मैंने अपनी सीमित समझ के आधार पर एक लघु प्रयास किया, परिणाम नीचे प्रस्तुत है-

तन का तानपुरा हरपल मिट्टी की महिमा गाता है
फिर भी अपनी पर आकर मानव अक्सर इठलाता है
मृत्यु परीक्षा लेती है जब भीम-तुल्य बलशाली की
लकड़ी का इक टुकड़ा भी छाती से हटा न पाता है।

इसे एक सीमा तक 'पुनर्लेखन' की संज्ञा भी दी जा सकती है, यह अलग बात है कि अभी भी इस मुक्तक के स्तर में 'श्रीवृद्धि' का मार्ग अवरुद्ध नहीं है। श्रेष्ठता की गुंजाइश तो सदैव बनी ही रहती है। और फिर...एक बात यह भी कि कोई भी लौकिक सृजन, संशोधन अथवा अनुसृजन ब्रह्मा की लिपि नहीं है। मेरा उपर्युक्त प्रयास भी इसका कोई अपवाद नहीं है। बहरहाल उदाहरण एवं अनुभव इतने कि यदि लिखने बैठूँ, तो एक भारी-भरकम ग्रंथ तैयार हो जाय। फिलहाल यहाँ मुख्य प्रकरण (विषय) से जुड़कर बात को आगे बढ़ाना उचित

होगा। इस क्रम में, सबसे पहले बात करता हूँ- 'दोहा-मुक्तक' पर। दोहा-मुक्तककारों में सम्प्रति सिर्फ दो प्रमुख कवियों के नाम और काम मेरे संज्ञान में आये हैं, एक डॉ. ब्रह्मजीत गौतम और दूसरे श्री कमलेश व्यास 'कमल'। इन कवि-द्वय का एक-एक उदाहरण क्रमशः नीचे प्रस्तुत है-

जीवन क्या है अन्ततः सिर्फ सुखों की झील
अथवा है यह दुख-भुझी एक नुकीली कील
सुख औ' दुख के बीच जो जलती आठों याम
जीवन है वह वस्तुतः एक सुभग कंदील।

(डॉ. ब्रह्मजीत गौतम)

कहना न होगा कि जब कोई कवि अपनी रचनाओं में मुहावरों का यथोचित प्रयोग करता है, तब उसका सृजन और भी अर्थ-दीप्त हो उठता है। निम्नांकित दोहा-मुक्तक में परम्परागत कथ्य के बावजूद मुहावरेदार भाषा-प्रयोग ने रचना को अलंकृत कर सपाटबयानी के धरातल से दूर पहुँचा दिया है। साथ ही, इस दोहा-मुक्तक में प्रयुक्त 'भरोसा' को प्रदान की गयी 'बालू की भीत' की उपमा ने मुक्तककार की भावाभिव्यक्ति काश्रृंगार कर दिया है-

हुआ भरोसा आजकल, ज्यों बालू की भीत।
नैतिकता अब हो गयी, भूला-बिसरा गीत।
इष्ट-मित्र किसको कहें, मतलब के हैं यार,
आज बदलते दौर में, पैसा है तो प्रीत।

(कमलेश व्यास 'कमल')

यदि आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय, तो विधागत रूप से 'दोहा' स्वयं ही 'मुक्तक काव्य' के अन्तर्गत आता है, तथापि 'दोहा' छंद के अनुशासन में बँधी चतुष्पदी रचनाओं अर्थात् 'दोहा-मुक्तकों' पर कोई प्रश्न-चिह्न लगाना उचित नहीं जान पड़ता है। माना कि वह चतुष्पदी रचना अपनी तृतीय पंक्ति में दोहा की निर्धारित तुकान्त-योजना को भंग कर देती है, तथापि उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वह समतुकान्तता की छूट लेकर भी दोहा छंद को भंग नहीं करती। इस बिन्दु के समर्थन में मेरा तर्क यह कि उस तृतीय पंक्ति में 'विषम' की प्रयुक्ति मुक्तक के लिए निर्धारित एक तुकान्त-योजना 'सम-सम-विषम-सम' के निर्वाह के लिए होती है, जो कि 'दोहा' छंद में रचित चतुष्पदियों को विधागत मानक पर खरा सिद्ध करती है। सच यह भी है कि दोहा-मुक्तककारों के सम्मुख चारों पंक्तियों को 'सम-सम-सम-सम' के विधान में प्रस्तुत करने का विकल्प

भी खुला हुआ है। अभी तक किसी भी दोहा-मुक्तककार का ऐसा कोई मुक्तक मेरी दृष्टि से नहीं गुजरा है। इस दिशा में भी काम किया जा सकता है। 'सम-सम-सम-सम' के तुक विधान से बचने का एक कारण शायद यह भी हो सकता है कि इस तुक-विधान में दोहा-मुक्तक रूपी 'चतुष्पदियों' में दो मिलते-जुलते भावों-विचारों वाले दोहों के संयुक्त होने की भ्रमपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो सकती है, लेकिन मेरी विनम्र राय में जहाँ तक 'सम-सम-सम-सम' के विधान की बात है, तो कहना होगा कि जब यह तुकान्त-योजना मुक्तक, रुबाई, कत्अ: में स्वीकार्य है, तो दोहा-मुक्तकों में क्यों न स्वीकार की जाय? प्रसिद्ध छंद-पथी कवि श्री धनीराम 'बादल' (उज्जैन) का एक कत्अ:/मुक्तक देखें, जिसमें चारों मिसरे काफिया-रदीफ से बँधे हैं-

बन्द यारों के लब रहे होंगे
कुछ तो इसके सबब रहे होंगे
डर दिलों में गजब रहे होंगे
मर्द लफ्जों में सब रहे होंगे।

उपर्युक्त मुक्तककार का ही एक अन्य मुक्तक देखें, जिसमें तीसरे मिसरे को काफिया-रदीफ के बंधन से मुक्त रखा गया गया है। इसमें कविवर 'बादल' का अन्दाजे-बयाँ भी काबिले-गौर है।

ऐसा इन्कार कि इकरार की हद को छू ले
ऐसा ठहराव कि रफ्तार की हद को छू ले
बुत बने बैठे हैं, नजरें ये मगर कहती हैं
खघमुशी ऐसी कि गुफ्तार की हद को छू ले।

सर्व-विदित है कि हिन्दी में सर्वाधिक मुक्तक 'सम-सम-विषम-सम' के विधान में ही निबद्ध हैं। यहाँ पुन: स्पष्ट करना चाहूँगा कि 'सम-सम-विषम-सम' के विधान में रचे गये दोहा-मुक्तक पूर्णत: स्वीकार्य हैं। इसे 'दोहा' छंद में किये गये 'नये प्रयोग' के रूप में स्वीकार किये जाने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इतिहास साक्षी है कि काव्य-मर्मज्ञों ने समय-समय पर छंद के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किये हैं, एक सद्यस्क उदाहरण तो 'जनक' छंद का भी उल्लेख्य है, जिसकी वंशावली 'दोहा' छंद से जुड़ी है। उधर 'कुण्डलिया' में भी इसके प्रयोग से हम सभी परिचित हैं ही।

'मुरुक-प्रदेश' में एक नया प्रयोग हाइकु-मुक्तक और 'हाइकु-रुबाई' के रूप में भी किया गया है, जिसकी बानगी इन पंक्तियों के लेखक (मै स्वयं)

द्वारा संपादित त्रैमा. 'सरस्वती सुमन' (देहरादून) के 'मुरुक विशेषांक' में देखी जा सकती है। उस बहुचर्चित विशेषांक में प्रथम बार इतने प्रयोगवादी मुक्तक, रुबाइयाँ एवं कत्आत एक-साथ प्रकाशित हुए हैं। वरिष्ठ साहित्यकार श्री रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु' एवं डॉ. बिन्दु जी महाराज (भारत), डॉ. हरदीप कौर 'संधु' तथा भावना कुँवर (ऑस्ट्रेलिया), रचना श्रीवास्तव (अमेरिका) आदि के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध कवि एवं समीक्षक डॉ. रामसनेही लाल शर्मा 'यायावर' (फिरोजाबाद) के भी 'हाइकु-मुक्तक' यत्र-तत्र प्रकाशित देखे गये हैं।

यहाँ एक विशेष प्रयोग की दृष्टि से वरिष्ठ कवि एवं संपादक श्री रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु' की एक रचना देखें, जो 5-7-5 के वर्णक्रम में 17 आक्षरिक त्रिपदकि छंद अर्थात् 'हाइकु' के साथ ही मुक्तक/कत्आत् की छांदसिक कसौटी पर भी खरी उतरती है। उनका यह 'हाइकु-मुक्तक' शैल्पिक दृष्टि से 'गैर मुरद्दफ' कोटि में परिगणित है। इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह कि हाइकु-मुक्तक में कवि पर 'हाइकु' के साथ ही मुक्तकध्कत्आत् के छंद-निर्वाह का दोहरा दायित्व होता है। यही कारण है कि 'हाइकु-मुक्तक' अपेक्षाकृत एक कठिन विधा है, जिसे हर हाइकुकार सहजतापूर्वक नहीं साध पाता है। जितने भी हाइकुकारों के ऐसे सृजन-प्रयास मेरे दृष्टि-पथ से गुजरे हैं, उनमें से अधिकतर 'हाइकु-मुक्तक' के नाम पर विकलांग-प्रस्तुतियाँ ही दे सके हैं। निम्नांकित रचना में श्री काम्बोज जी ने हाइकु के साथ ही 26 मात्रिक छंद-विधान को बड़ी कुशलता से निभाया है-

इस जग में कितनों ने समझी आँसू की बोली
सबके आगे कितनों ने दुःख की गठरी खोली
क्या जाने कोई दुख की गहराई दुखदायक
चुपके से आ किसने जीवन में मिसरी घोली!

इस लघु आलेख में स्थानाभाव के चलते 'हाइकु-रुबाई' का उदाहरण-सम्मत उल्लेख संभव नहीं हो पा रहा है, तथापि अब तक सिर्फ चार हाइकु-रुबाईकारों के नाम मेरे संज्ञान में हैं, यथा- स्वामी श्यामानन्द सरस्वती 'रौशन', श्री धनसिंह खोबा 'सुधाकर', डॉ. मिर्जा हसन 'नासिर' एवं श्री इब्राहीम 'अश्क'।

उपर्युक्त से इतर सामान्य प्रचलित मुक्तक/कत्आत में भी, गजलों की तरह 'गैर मुरद्दफ' चतुष्पदियों के बहुतेरे उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। सुप्रसिद्ध कवि डॉ. मधुसूदन साहा (उड़ीसा) के संग्रह 'मुक्तक मणि' (चयन एवं संपादन-जितेन्द्र 'जौहर') में शामिल एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है-

वक्त कहता होंठ अपने आज खोलो
चल पड़ा है काफिला तुम साथ होलो
बाहुबलियों से अगर यूँ ही डरोगे,
'कल' करेगा क्यों तुम्हें फिर माफ बोलो?

सुपरिचित कवि श्री दीपक 'दानिश' का यह कता/मुक्तक देखें, जिसमें चारों मिसरे/पंक्तियाँ परस्पर सुसम्बद्ध हैं। यहाँ पहली पंक्ति में जिस विषय को प्रवर्तित किया गया है, दूसरी पंक्ति ने उसमें एक नया आयाम जोड़ दिया है। आगे के क्रम में तीसरी पंक्ति एक आवश्यक बुनियाद खड़ी करने में सफल हुई है, जिस पर चौथी प्रभावपूर्ण पंक्ति काफी सरलता से टिक गयी है–

उनसे शाखघें पे इक तबस्सुम था
तिनके-तिनके में इक तरन्नुम था
शुद्ध से अब जो उड़ गये पंछी
शुद्ध उनके लिए जहन्नुम था।

उपर्युक्त चौपदी में यह भी ज्ञातव्य है कि प्रथम पंक्ति ने विषय-प्रवर्तन के बावजूद कथ्य को पूर्णतः उद्घ्घाटित नहीं किया है, बल्कि उसने एक पाठकीय जिज्ञासा जगा दी है। पंक्ति पुनः देखें- 'उनसे शाखघें पे इक तबस्सुम था।' यहाँ प्रश्न उठता है कि 'किनसे...तबस्सुम था?' इसका उत्तर अभी अनुपलब्ध है। उत्तर की यह अनुपलब्धता की स्थिति द्वितीय पंक्ति में भी यथावत है, अर्थात् यहाँ भी 'पाठकीय जिज्ञासा' अग्रसारित हो गयी है। जिज्ञासा के वशीभूत पाठक आगे बढ़ता है, तृतीय पंक्ति तक पहुँचकर उसे वांछित उत्तर प्राप्त हो जाता है- 'पंछी'। अब रही बात चतुर्थ पंक्ति की, तो कहना होगा कि वह एक विशेष तेवर के साथ उतरी है। रूपकाभा लेकर। स्पष्टतः यह चौपदी हमारी पर्यावरणीय दशा को दर्शाने में एक बड़ी सीमा तक सफल हुई है, जिसमें 'जहन्नुम' शब्द अपनी केन्द्रीय भूमिका निभा रहा है। इन सब खूबियों के बीच, शिल्प एवं प्रकार की दृष्टि से इस चौपदी को और भी विशेष बनाया जा सकता था, एक लघु परिवर्तन के माध्यम से।

वरिष्ठ कवि डॉ. रामसनेही लाल शर्मा 'यायावर' का एक मनभावन मुक्तक देखें, जिसमें मुक्तककार ने बिना कोई मात्रा गिराये अपने भावों-विचारों को अभिव्यक्त करने में सफलता पायी है। निःसंदेह यह मुक्तक हिन्दी के 'विधाता' छंद के समुचित निर्वाह का एक उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमें 'यति-गति' के निर्धारित विधान का भी पूरा ध्यान रखा गया है। इसे मैंने अपने

स्तम्भ 'तीसरी आँख' (त्रैमा. 'अभिनव प्रयास') की एक किस्त में छंद के लक्षण उल्लेख के साथ सम्मिलित करते हुए लिखा था कि शृंगार-रस में आप्लावित डॉ. 'यायावर' के निम्नांकित मुक्तक में जहाँ मधुर चुम्बन की वाचालता है, तो वहीं उसके माधुर्य को अभिव्यक्त कर पाने की भाषागत असमर्थता भी...'ज्यों गूँगे को गुड़'! यह मुक्तक पढ़ते ही मेरी स्मृति में कविवर त्रिलोचन आ गये...यह कहते हुए कि- 'भाषा के भी परे प्राण लहरें लेता है!' यहाँ पंक्ति-चतुष्टय की भावगत सुसंबद्धता द्रष्टव्य है। साथ ही, यह भी कि तीसरी पंक्ति को कितनी कलात्मकता के साथ चौथी पंक्ति का सोपान बनाया गया है।

रसखान के मुक्तक

हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्त तथा रीतिकालीन कवियों में रसखान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'रसखान' को रस की खान कहा जाता है। रसखान के मुक्तक काव्य तारतम्य के बंधन से मुक्त होने के कारण (मुक्तेन मुक्तकम) मुक्तक कहलाता है और उसका प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण होता है। 'मुक्तक' वह स्वच्छंद रचना है जिसके रस का उद्रेक करने के लिए अनुबंध की आवश्यकता नहीं। वास्तव में मुक्तक काव्य का महत्त्वपूर्ण रूप है, जिसमें काव्यकार प्रत्येक छंद में ऐसे स्वतंत्र भावों की सृष्टि करता है, जो अपने आप में पूर्ण होते हैं।

मुक्तक

मुक्तक काव्य के प्रणेता को अपने भावों को व्यक्त करने के लिए अन्य सहायक छंदों की आवश्यकता अधिक नहीं होती। प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक रचना के लिए कथा की आवश्यकता अधिक होती है, क्योंकि काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तक में न तो किसी वस्तु का वर्णन ही होता है और न वह गेय है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का अथवा किसी एक दृश्य का या प्रकृति के किसी पक्ष विशेष का चित्र मात्र होता है। इसी से काव्यकार को प्रबंध काव्य की अपेक्षा सफल मुक्तकों की सृष्टि के लिए अधिक कौशल की आवश्यकता पड़ती है। पूर्वा पर प्रसंगों की परवाह किये बिना सूक्ष्म एवं मार्मिक खंड दृश्य अथवा अनुभूति को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने वाली उस रचना को मुक्तक काव्य के नाम से अभिहित किया जाता है- जिसमें न तो कथा का व्यापक प्रवाह रहता है और न ही उसमें क्रमानुसार किसी कथा को सजाकर वर्णन करने का

आग्रह होता है, बल्कि मुक्तक काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति होती है जो स्वयं में पूर्ण तथा अपेक्षाकृत लघु रचना होती है।

मुक्तक के प्रकार

विषय के आधार पर मुक्तक को तीन वर्गों में बांटा गया है–शृंगार परक, वीर रसात्मक तथा नीति परक। स्वरूप के आधार पर मुक्तक के गीत, प्रबंध मुक्तक, विषय प्रधान, संघात मुक्तक, एकार्थ प्रबंध तथा मुक्तक प्रबंध आदि भेद किये जा सकते हैं।

रसखान द्वारा प्रयुक्त मुक्तक

रसखान का उद्देश्य किसी खंड काव्य या महाकाव्य की रचना न था। प्रेमोमंग के इस कवि को तो अपने मार्मिक उद्गारों की अभिव्यक्ति करनी थी। उसके लिए मुक्तक से अच्छा माध्यम और क्या हो सकता था। रसखान ने अपने कोमल मार्मिक भावों–रूपी पुष्पों से मुक्तक–रूपी गुलदस्ते को सजा दिया। रसखान नेशृंगार मुक्तक तथा स्वतंत्र मुक्तक के रूप में ही काव्य की रचना की।

शृंगार मुक्तक

शृंगार परकमुक्तकों के अंतर्गत ऐहिकतापरक रचनाएं आती हैं जिनमें अधिकतर नायक–नायिका कीशृंगारी चेष्टाएं, भाव भंगिमा तथा संकेत स्थलों का सरल वर्णन होता है। मिलन काल की मधुर क्रीड़ा तथा वियोग के क्षणों में बैठे आंसू गिराना अथवा विरह की उष्णता से धरती और आसमान को जलाना आदि अत्युक्तिपूर्ण रचनाएंशृंगार मुक्तक के अंतर्गत ही होती है। नायक–नायिकाओं की संयोग–वियोग अवस्थाओं तथा विभिन्न ऋतुओं का वर्णनशृंगारी मुक्तककारों ने किया है। रसखान के काव्य मेंशृंगार के दर्शन होते हैं। उन्होंनेशृंगार–मुक्तक में सुन्दर पद्यों की रचना की है। मोहन के मन भाइ गयौ इक भाइ सौ ग्वालिन गोधन गायौ।

ताकों लग्यौ चट, चौहट सो दुरि औचक गात सौं गात छुवायौ।
रसखानि लही इनि चातुरता रही जब लौं घर आयौ।
नैन नचाइ चितै मुसकाइ सु ओट ह्वै जाइ अँगूठा दिखायौ।
रसखान के दोहे, महावन, मथुरा
अखियाँ अखियाँ सौं सकाइ मिलाइ हिलाइ रिझाइ हियो हरिबो।

बतियाँ चित चौरन चेटक सी रस चारू चरित्रन ऊचरिबौ।
रसखानि के प्रान सुधा भरिबो अधरान पै त्यों अधरा अधिबौ।
इतने सब मैन के मोहनी जंत्र पै मन्त्र बसीकर सी करिबौ।
नवरंग अनंग भरी छबि सों वह मूरति आँखि गड़ी ही रहै।
बतियां मन की मन ही में रहै, घतिया उन बीच अड़ी ही रहै।
तबहूँ रसखानि सुजान अली नलिनी दल बूँद पड़ी ही रहै।
जिय की नहिं जानत हौं सजनी रजनी अँसुवान लड़ी ही रहै।

स्वतन्त्र मुक्तक

कोष मुक्तक की भांति ही स्वतंत्र मुक्तक विशुद्ध मुक्तक काव्य का एक अंग अथवा भेद है, जिसके लिए न तो संख्या का बंधन है और न एक प्रकार के छंदों का ही। बल्कि कवि की लेखनी से तत्काल निकले प्रत्येक फुटकर छंद को स्वतंत्र मुक्तक की संज्ञा दी जा सकती है। स्वतंत्र मुक्तक काव्य के लिए प्रेमश्रृंगार, नीति तथा वीर रस आदि कोई भी विषय चुना जा सकता है। रसखान ने अधिकांश रचना स्वतंत्र मुक्तक के रूप में की। उन्होंने भक्ति एवंश्रृंगार संबंधी मुक्तक लिखे।

मोर-पखा सिर ऊपर राखिहौ गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी।
भाव तो वोहि मेरो रसखानि सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरान धरौंगी।

रसखान द्वारा रचित कवित्त सवैये मुक्तक रचना की विभिन्न कसौटियों पर पूर्णरूप से खरे उतरते हैं। प्रत्येक छंद अपने में एक इकाई हैं। चार पंक्तियों में संपूर्ण चित्र का निर्माण बड़ी कुशलता से किया गया है। चित्रात्मकता, भावातिरेक और उक्ति वैदग्ध का यह सामंजस्य अत्यंत दुर्लभ है।

धूरि भरे अति सोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरै अंगना पग पैजनी बाजति पीरी कछोटी।
वा छबि को रसखानि बिलोकत वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथसों ले गयौ माखन रोटी।

रसखान की रचनाओं के अनुशीलन से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वे मुक्तक रचनाओं के कवि हैं। वस्तुतः कृष्ण-भक्त कवियों की यह एक अवेक्षणीय विशेषता रही है कि उन्होंने प्रबंध रचना में रुचि नहीं दिखाई। इसका

मूल कारण यह था कि उनकी दृष्टि भगवान कृष्ण की सौंदर्य मूर्ति पर ही केन्द्रित थी, शक्ति और शील पर नहीं। रसखान स्वभाव से ही सौंदर्योपासक और प्रेमी जीव थे। अतः उनमें भी इस प्रवृत्ति का पाया जाना सर्वथा स्वाभाविक था। अपने प्रेम विह्वल चित्र के भावों की प्रवाहमयी और प्रेमोत्पादक व्यंजना के लिए मुक्तक का माध्यम ही अधिक उपयुक्त था। रसखान में अपनी स्वानुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक के इस माध्यम का असाधारण सफलता के साथ प्रयोग किया है। मुक्तक के लिए प्रौढ़, प्रांजल तथा समासयुक्त भाषा आवश्यक है। मुक्तक के छोटे से कलेवर में भावों का सागर भरने के लिए इस प्रकार की भाषा को उत्तम कहा गया है। रसखान की भाषा मृदुल, मंजुल, और गति पूर्ण होते हुए भी बोझिल नहीं है। उसमें व्यक्त एक-एक चित्र अमर है। सानुप्रास शब्दों से भाषा की गतिपूर्ण लय में आंतरिक संगीत ध्वनित होता है। आवेग की तीव्रता के द्वारा कोमल प्रभाव की अभिव्यंजना होती है। साधारण मुक्तक काव्य की गीतात्मकता में हृदय को झंकृत कर देने की शक्ति है। रसखान के मुक्तकों की सबसे बड़ी विशेषता है, भाव एवं अभिव्यंजना की एकतानता, जो उन्हें गीति काव्य के निकट ला देती है।

12

पद

पद काव्य रचना की गेय शैली है। इसका विकास लोकगीतों की परंपरा से माना जाता है। यह मात्रिक छन्द की श्रेणी में आता है। प्राय: पदों के साथ किसी न किसी राग का निर्देश मिलता है। पद विशेष को सम्बन्धित राग में ही गाया जाता है। 'टेक' इसका विशेष अंग है। हिन्दी साहित्य में पद शैली की दो परम्पराएँ मिलती हैं। एक सन्तों के 'सबदों' की दूसरी कृष्णभक्तों की पद-शैली है, जिसका आधार लोकगीतों की शैली होगा।

मध्यकाल में भक्ति भावना की अभिव्यक्ति के लिए पद शैली का प्रयोग हुआ। सूरदास का समस्त काव्य-व्यक्तित्त्व पद शैली से ही निर्मित है। 'सूरसागर' का सम्पूर्ण कवित्वपूर्ण और सजीव भाग पदों में है।

परमानन्ददास, नन्ददास, कृष्णदास, मीराबाई, भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि के पदों में सूर की मार्मिकता मिलती है। तुलसीदास जी ने भी अपनी कूछ रचनाएँ पदशैली में की हैं। वर्तमान में पदशैली का प्रचलन नहीं के चरावर है, परन्तु सामान्य जनता और सुशिक्षित जनों में सामान्य रूप से इनका प्रचार और आकर्षण है।

रूप वाक्य में प्रयुक्त शब्द को कहते हैं। इसे पद भी कहा जाता है। शब्दों के दो रूप है। एक तो शुद्ध रूप है या मूल रूप है जो कोश में मिलता है और दूसरा वह रूप है जो किसी प्रकार के संबंध-सूत्र से युक्त होता है। यह दूसरा, वाक्य में प्रयोग के योग्य रूप ही 'पद' या 'रूप' कहलाता है।

परिभाषा

संस्कृत में 'शब्द' या मूल रूप को ' प्रकृति' या 'प्रातिपदिक' कहा गया है और सम्बन्ध-स्थापन के लिए जोड़े जाने वाले तत्त्व को 'प्रत्यय'।

महाभाष्यकार पतंजलि कहते हैं कि वाक्य में न तो केवल 'प्रकृति' का प्रयोग हो सकता है, न केवल प्रत्यय का। दोनों मिलकर प्रयुक्त होते हैं। प्रकृति और प्रत्यय दोनों के मिलने से जो बनता है उसे ही ' पद ' या 'रूप' कहते हैं। उदाहरण के लिए वृक्षात् पत्राणि पतन्ति। इस वाक्य में वृक्ष पत्र आदि शब्द के बजाय उसके प्रत्यय सहित रूप पद वृक्षात्, पत्राणि आदि का प्रयोग हुआ है। लेकिन सभी भाषाओं में शब्द और पद के रूप में इतनी भिन्नता नहीं होती है। वियोगात्मक भाषाओं में जहाँ संबंधतत्त्व दर्शाने के लिए परसर्गों का प्रयोग होता है वहाँ शब्द और पद के रूप में कभी-कभी भिन्नता होती है तो कभी नहीं भी। उदाहरण स्वरूप-

राम आम खाता है। इस वाक्य में प्रयुक्त पद एवं शब्द में भिन्नता नहीं है।

पेड़ों की डालियाँ फलों से लदी हैं। इस वाक्य में पेड़, डाली, फल, लदना जैसे शब्द के पद के रूप में प्रयुक्त हुए परिवर्तित रूप को देखा जा सकता है।

चीनी भाषा में संबंधतत्त्व वाक्य में शब्द के स्थान से ही जाहिर हो जाते हैं। इसलिए उसमें शब्द और पद में भिन्नता नहीं होती है।

शब्द व पद में अंतर

1. शब्द वर्णों की स्वतंत्र एवं सार्थक इकाई है, जबकि पद वाक्य में प्रयुक्त शब्द है।
2. शब्द का मात्र अर्थ परिचय होता है, जबकि पद का व्याकरणिक परिचय होता है।
3. शब्द सार्थक और निरर्थक दोनों होते हैं, जबकि पद वाक्य में अर्थ का संकेत देता है।
4. शब्द का लिंग, वचन, कारक तथा क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जबकि पद का लिंग, वचन, कारक तथा क्रिया से सम्बन्ध होता है।

सूरदास के पद

(1)

ऊधौ, तुम हौ अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेह तगा तैं, नाहिन मन अनुरागी।
पुरइनि पात रहत जल भीतर, ता रस देह न दागी।
ज्यौं जल माहँ तेल की गागरि, बूँद न ताकौं लागी।

प्रीति-नदी मैं पाउँ न बोरयौ, दृष्टि न रूप परागी।
'सूरदास' अबला हम भोरी, गुर चाँटी ज्यौं पागी।

सूरदास के पद का भावार्थ :- प्रस्तुत पंक्तियों में गोपियाँ उद्धव (श्री कृष्ण के सखा) से व्यंग करते हुए कह रही हैं कि तुम बड़े भाग्यवान हो, जो तुम अभी तक कृष्ण के प्रेम के चक्कर में नहीं पड़े। गोपियों के अनुसार उद्धव उस कमल के पत्ते के सामान हैं, जो हमेशा जल में रहकर भी उसमें डूबता नहीं है और न ही उसके दाग-धब्बों को खुद पर आने देता है। गोपियों ने फिर उद्धव की तुलना किसी तेल के मटके से की है, जो निरंतर जल में रहकर भी उस जल से खुद को अलग रखता है।

यही कारण है कि गोपियाँ उद्धव को भाग्यशाली समझती हैं, जबकि वे खुद को अभागिन अबला नारी समझती हैं, क्योंकि वह बुरी तरह कृष्ण के प्रेम में पड़ चुकी हैं। उनके अनुसार श्री कृष्ण के साथ रहते हुए भी उद्धव ने कृष्ण के प्रेम-रूपी दरिया में कभी पाँव नहीं रखा और न ही कभी उनके रूप-सौंदर्य का दर्शन किया। जबकि गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में इस तरह पड़ चुकी हैं, मानो जैसे गुड़ में चींटियाँ लिपटी हों।

(2)

मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाइ कौन पै ऊधौ, नाहीं परत कही।
अवधि अधार आस आवन की, तन मन बिथा सही।
अब इन जोग सँदेसनि सुनि-सुनि, बिरहिनि बिरह दही।
चाहति हुतीं गुहारि जितहिं तैं, उत तैं धार बही।
'सूरदास' अब धीर धरहिं क्यौं, मरजादा न लही।

सूरदास के पद का भावार्थ :- गोपियाँ उद्धव से अपनी पीड़ा बताते हुए कह रही हैं कि श्री कृष्ण के गोकुल छोड़ कर चले जाने के उपरांत, उनके मन में स्थित कृष्ण के प्रति प्रेम-भावना मन में ही रह गई है। वे सिर्फ इसी आशा से अपने तन-मन की पीड़ा को सह रही थीं कि जब कृष्ण वापस लौटेंगे, तो वे अपने प्रेम को कृष्ण के समक्ष व्यक्त करेंगी और कृष्ण के प्रेम की भागीदार बनेंगी। परन्तु जब उन्हें कृष्ण का योग-संदेश मिला, जिसमें उन्हें पता चला कि वे अब लौटकर नहीं आएंगे, तो इस संदेश को सुनकर गोपियाँ टूट-सी गई और उनकी विरह की व्यथा और बढ़ गई।

अब तो उनके विरह सहने का सहारा भी उनसे छिन गया अर्थात् अब श्री कृष्ण वापस लौटकर नहीं आने वाले हैं और इसी कारण अब उनकी प्रेम-भावना कभी संतुष्ट होने वाली नहीं है। उन्हें कृष्ण के रूप-सौंदर्य को दोबारा निहारने का मौका अब नहीं मिलेगा। उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अब वह हमेशा के लिए कृष्ण से बिछड़ चुकी हैं और किसी कारणवश गोपियों के अंदर जो धैर्य बसा हुआ था, अब वह टूट चुका है। इसी वजह से गोपियाँ वियोग में कह रही हैं कि श्री कृष्ण ने सारी लोक-मर्यादा का उल्लंघन किया है, उन्होंने हमें धोखा दिया है।

(3)

हमारैं हरि हारिल की लकरी।
मन क्रम बचन नंद-नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी।
जागत सोवत स्वप्न दिवस-निसि, कान्ह-कान्ह जक री।
सुनत जोग लागत है ऐसौ, ज्यौं करुई ककरी।
सु तौ ब्याधि हमकौ लै आए, देखी सुनी न करी।
यह तौ 'सूर' तिनहिं लै सौंपौ, जिनके मन चकरी।

सूरदास के पद का भावार्थ :- सूरदास जी के इन पदों में गोपियां उद्धव से यह कह रही हैं कि हमारे हृदय में श्री कृष्ण के प्रति अटूट प्रेम है, जो कि किसी योग-संदेश द्वारा कम होने वाला नहीं है। बल्कि इससे उनका प्रेम और भी दृढ़ हो जाएगा। गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि जिस तरह हारिल (एक प्रकार का पक्षी) अपने पंजों में लकड़ी को बड़ी ही दृढ़ता से पकड़े रहता है, उसे कहीं भी गिरने नहीं देता, उसी प्रकार हमने हरि (भगवान श्री कृष्ण) को अपने हृदय के प्रेम-रूपी पंजों से बड़ी ही दृढ़ता से पकड़ा हुआ है। हमारे मन में दिन-रात केवल हरि ही बसते हैं।

यहाँ तक कि हम सपने में भी हरि का नाम रटते रहते हैं और इसी वजह से हमें तुम्हारा यह योग संदेश किसी कड़वी ककड़ी की तरह लग रहा है। हमारे ऊपर तुम्हारे इस संदेश का कुछ असर होने वाला नहीं है। इसलिए हमें इस योग संदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर आगे गोपियाँ कहती हैं कि तुम यह संदेश उन्हें सुनाओ, जिनका मन पूरी तरह से कृष्ण की भक्ति में डूबा नहीं और शायद वे यह संदेश सुनकर विचलित हो जाएँ। पर हमारे ऊपर तुम्हारे इस संदेश का कोई असर नहीं पड़ने वाला है।

(4)

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
समुझी बात कहत मधुकर के, समाचार सब पाए।
इक अति चतुर हुते पहिलैं ही, अब गुरु ग्रंथ पढ़ाए।
बढ़ी बुद्धि जानी जो उनकी, जोग-सँदेस पठाए।
ऊधौ भले लोग आगे के, पर हित डोलत धाए।
अब अपनै मन फेर पाइहैं, चलत जु हुते चुराए।
ते क्यौं अनीति करैं आपुन, जे और अनीति छुड़ाए।
राज धरम तौ यहै 'सूर', जो प्रजा न जाहिं सताए।

सूरदास के पद का भावार्थ :- प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने हमें यह बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार गोपियाँ श्री कृष्ण के वियोग में खुद को दिलासा दे रही हैं। सूरदास गोपियों के माध्यम से कह रहे हैं कि श्री कृष्ण ने राजनीति का पाठ पढ़ लिया है। जो कि मधुकर (उद्धव) के द्वारा सब समाचार प्राप्त कर लेते हैं और उन्हीं को माध्यम बनाकर संदेश भी भेज देते हैं।

उद्धव जिसे यहाँ भँवरा कहकर दर्शाया गया है, वह तो पहले से ही चालाक है, परन्तु श्री कृष्ण के राजनीति का पाठ पढ़ाने से अब वह और भी चतुर हो गया है और हमें अपने छल-कपट के माध्यम से बड़ी चतुराई के साथ श्री कृष्ण का योग संदेश दे रहा है। कृष्ण की बुद्धि की भी तो दाद देनी होगी, जो हमें इस ऊधौ (उद्धव) के जरिए संदेश दे रहे हैं, जिससे हम उन्हें भूल जाएं। ऐसा तो कतई नहीं होगा, लेकिन हाँ इससे हमारा मन तो हमें वापस मिल जाएगा, जो कि श्री कृष्ण यहाँ से जाते समय चुराकर ले गए थे।

उनके अनुसार बड़े लोग तो हमेशा दूसरों की भलाई के लिए परिश्रम करते हैं, पर गोपियों को यह बात समझ में नहीं आ रही है कि जो श्री कृष्ण दूसरों को न्याय का पाठ पढ़ाते हैं, वे स्वयं उनके साथ इतना बड़ा अन्याय कैसे कर सकते हैं। उनके अनुसार, किसी भी राजा का परम कर्तव्य यही होता है कि वह अपनी प्रजा के सुख-दुःख का ख्याल रखे। परन्तु यहाँ तो श्री कृष्ण स्वयं ही उन्हें दुःख दे रहे हैं। उन्हें अपना कर्तव्य निभाना चाहिए और गोपियों के समक्ष प्रस्तुत होकर उन्हें दर्शन देने चाहिए, जिससे उनके हृदय में हो रही विरह की पीड़ा शांत हो जाए।

चौपाई

चौपाई मात्रिक सम छन्द का एक भेद है। प्राकृत तथा अपभ्रंश के 16 मात्रा के वर्णनात्मक छन्दों के आधार पर विकसित हिन्दी का सर्वप्रिय और अपना छन्द है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में चौपाई छन्द का बहुत अच्छा निर्वाह किया है। चौपाई में चार चरण होते हैं, प्रत्येक चरण में 16-16 मात्राएँ होती हैं तथा अन्त में गुरु होता है। 'प्राकृत' का चउपइया 15 मात्राओं का भिन्न छन्द है। इसका विकास पादाकुलक के चौकलों के नियम के शिथिल होने से सम्भव जान पड़ता है। भानु ने चौपाई के 16 मात्रा के चरणों में न तो चौकलों का कोई क्रम माना है और न ही लघु-गुरु का। उन्होंने सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम कल के प्रयोग को अच्छा माना है तथा अन्त में जगण (।*।) और तगण (**।) को वर्जित माना है।

सम-सम का प्रयोग-

'गुरु-पद-रज-मृदु-मं-जुल-अं-जन'।

विषम-विषम, सम-सम का प्रयोग-

'नित्य-भजिय-तजि-मन-कुटि-ला-ई'।

विषम-विषम सम, विषम-विषम सम का प्रयोग-

'कहहु-राम-की-कथा-सुहा-ई।'

दो विषम सम के समान प्रयुक्त-

'बंदौं-राम-नाम-रघु-बरको।' तुलसी ने इन नियमों का 'रामचरितमानस' में बहुत अच्छा निर्वाह किया है और उनके छन्द प्रवाह का सौन्दर्य भी यही है। चन्द, जायसी, सुन्दर, सूर, नन्ददास तथा जोधराज आदि ने इन नियमों में शिथिलता दिखलाई है। कभी-कभी 15 मात्रा के चरणों का प्रयोग मिलता है और कभी लघुगुरु (A·) से अन्त किया गया है। यद्यपि 15 मात्रा का 'चौपई छन्द' अलग है, परन्तु उसके अन्त में ग ल (·A) आवश्यक है। चरण के अन्त में ल ग (A·) का प्रयोग इस छन्द में स्वतंत्रता से मिलता है। जायसी में ऐसे अनेक छन्द हैं तथा नन्ददास ने अपनी तीनों मंजरियों में ऐसे बहुत प्रयोग किये हैं- 'चले-चले तुम जैयो तहाँ। बैठे हों साँवरे जहाँ।'। इनको चौपाई ही माना जायेगा, यद्यपि 15 मात्रा के चरण हैं। सुन्दर में 15 मात्रा के ल ग (A·) तथा ग ग (**) दोनों प्रकार के अन्त पाये जाते हैं, जो चौपई के x ल (·A) से भिन्न हैं- 'ये चौपाई त्रयोदस कही। आतम साक्षी जानौ सही।' वस्तुतः अनेक कवियों में चौपाई तथा चौपई छन्द के प्रयोग में भ्रम की स्थिति पायी जाती है।

विशेषता

हिन्दी में यह छन्द चन्द्र के काव्य से ही मिलता है। यह सामान्यत: वर्णनात्मक है, जिसमें किसी भी प्रकार की स्थिति आ जाती है। सभी रसों का निर्वाह इसमें हो जाता है। कथा-काव्यों में इस छन्द की लोकप्रियता का मुख्य कारण यही है। वीरकाव्य के कवियों में केशव, जटमल, गोरेलाल, सूदन, गुलाब तथा जोधराज आदि ने चौपाई का प्रयोग प्रसंगानुकूल किया है, पर प्रेमाख्यानक कवियों में कुतुबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद आदि सभी ने इस छन्द को दोहा के साथ अपनाया है। सूर ने 'सूरसागर' के कथात्मक अंशों को जोड़ने के लिए इस छन्द का आश्रय लिया है। नन्ददास ने मंजरियों में प्रयोग किया है। कथा-काव्य के लिए इस छन्द की उपयुक्तता के कारण कृष्ण-कथा भी इस शैली में कई कवियों ने लिखी है। आधुनिक काल में द्वारकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' में इसका प्रयोग किया है। लाल कवि का 'छत्र-प्रकाश' इसी शैली में है। सन्त कवियों में सुन्दरदास ने भी ग्रन्थों की रचना दोहा-चौपाई-शैली में की है।

चौपई छन्द

चौपई एक मात्रिक छन्द है। इस छन्द में चार चरण यानि चार पाद होते है। चौपई छन्द से मिलते-जुलते नाम वाले अत्यंत ही प्रसिद्ध सममात्रिक छन्द चौपाई से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। चौपई के प्रत्येक चरण में 15 मात्राओं के साथ ही प्रत्येक चरण में समापन एक गुरु एवं एक लघु के संयोग से होता है। अपने समय में इस छन्द का प्रयोग धार्मिक साहित्य, जैसे श्लोकादि में किया जाता रहा है।

पहचान

चौपाई छन्द 16 मात्राओं के चरण का छन्द होता है। चौपाई के चरणान्त से एक लघु निकाल दिया जाय तो चरण की कुल मात्रा 15 रह जाती है और चौपाई छन्द का नाम बदल कर 'चौपई' हो जाता है। इस तरह चौपई का चरणांत गुरु-लघु हो जाता है। यही इसकी मूल पहचान है। अर्थात् चौपई 15 मात्राओं के चार चरणों का सम मात्रिक छन्द है। इस छंद का एक और नाम 'जयकरी' या 'जयकारी' छन्द भी है।

चार चौकल

दो चौकल, एक अठकल

दो अठकल

उपरोक्त विन्यास में से अंत का एक लघु हटा दिया जाय तो उसका विन्यास इस प्रकार बनता है। यह चौपई छन्द का विन्यास होगा–

तीन चौकल , गुरु–लघु

एक अठकल, एक चौकल, गुरु–लघु

उत्तम छन्द सृजन

उत्तम छन्द सृजन के लिए अगर इस छन्द की रचना करते समय।।।। ·AA · · ·Aया 4, 4, 7 का मात्रिक विन्यास रखा जाए तो लयबद्धता अधिक निखर कर आती है।

बाल–साहित्य में उपयोगी

चौपई छन्द के सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी सर्वमान्य है कि चौपई छन्द बाल–साहित्य के लिए बहुत उपयोगी है, क्योंकि ऐसे में गेयता अत्यंत सधी होती है।

हाथीजी की लम्बी नाक। सिंहराज की बैठी धाक।
भालू ने पिटवाया ढाक। ताक धिना–धिन धिन–धिन ताक।
बन्दर खाता काला जाम। खट्टा लगता कच्चा आम।
लिये सुमिरनी आठो जाम। तोता जपता सीता – राम।

व्यावहारिक उदाहरण

पड़ी अचानक नदी अपार। घोड़ा कैसे उतरे पार।
राणा ने सोचा इस पार। तबतक चेतक था उसपार।

❑❑❑